कल्याण

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,८५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१४, अप्रैल १९८८ ई०

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य भारतमें १.५० रु० विदेशमें २० पेंस

जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य (डाक-व्ययसहित) भारतमें ३८.००रु० विदेशमें ६ पौंड अथवा ९ डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—राधेश्याम खेमका

गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

भगवान् कार्तिकेय

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

विद्या नाम नरस्य कीर्तिरतुला भाग्यक्षये चाश्रयो धेनुः कामदुधा रतिश्च विरहे नेत्रं तृतीयं च सा।
सत्कारायतनं कुलस्य महिमा रत्नैर्विना भूषणं तस्मादन्यमुपेक्ष्य सर्वविषयं विद्याधिकारं कुरु॥

वर्ष ६२ } गोरखपुर, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१४, अप्रैल १९८८ ई० { संख्या ४ पूर्ण संख्या ७३७

भगवान् कार्तिकेयको नमस्कार

सिन्दूरारुणकान्तिमिन्दुवदनं केयूरहारादिभिर्दिव्यैराभरणैर्विभूषिततनुं स्वर्गस्य सौख्यप्रदम्।
वरमुद्राभयशक्तिकुक्कुटधरं रक्ताङ्गरागांशुकं सुब्रह्मण्यमुपास्महे प्रणमतां भीतिप्रणाशोद्यतम्॥

(शारदातिलक १३। १२१)

'जिनके शरीरकी कान्ति सिन्दूरके सदृश लाल वर्णकी है, जिनका मुख चन्द्रमाके समान आह्लादक है तथा श्रीविग्रह केयूर, हार आदि दिव्य आभरणोंसे अलंकृत है, जो स्वर्गीय सुखको प्रदान करनेवाले हैं, जिनके हाथोंमें वरदमुद्रा, अभयमुद्रा, शक्ति तथा कुक्कुट सुशोभित हो रहे हैं, जिनका अङ्गराग और वस्त्र लाल रंगका है और जो प्रणाम करनेवालोंके भयको दूर करनेके लिये उद्यत रहते हैं, उन भगवान् कार्तिकेयकी हम उपासना—वन्दना करते हैं।'

कल्याण

याद रखो—मानव-जीवनकी सफलता भगवत्प्राप्तिमें है, भोगप्राप्तिमें नहीं। मनुष्य चाहता है अनन्त असीम सर्वथा दुःखरहित सुख। वह सहज ही परम स्वतन्त्रता और जीवनकी नित्य अमरता चाहता है। पर ये तीनों ही वस्तुएँ भोगोंमें नहीं हैं।

भोगोंमें सुख तो है ही नहीं, अपितु वे दुःखयोनि हैं। उनमें दीखनेवाला सुख मोहजनित तथा दुःखका पूर्वरूप है। भोग सदा परतन्त्र हैं, अतः वे परतन्त्रता ही प्रदान करते हैं तथा भोग स्वयं अनित्य एवं विनाशी हैं, अतः वे क्षणभङ्गुरता एवं मरण ही देते हैं। पक्षान्तरमें भगवान् अनन्त असीम सच्चिदानन्दमय हैं। वे परम स्वतन्त्र हैं तथा समस्त बन्धनोंसे मुक्त करके आत्माकी नित्य स्वतन्त्रताका उदय करानेवाले हैं एवं स्वरूपगत अमृतस्वरूप हैं और सहज अमरत्व प्रदान करनेवाले हैं।

क्षणभङ्गुर अनित्य दुःखमय भोगोंके अर्जन, संग्रह तथा उपभोगमें लगा हुआ मनुष्य सदा चिन्ताग्रस्त, अशान्त, भयभीत तथा पापकर्मोंमें ही संलग्न रहता है। इससे उसके संकटोंकी—संतापोंकी नित्य नयी वृद्धि होती रहती है और वह यहाँ अनन्त तापमय असफल जीवन बिताकर दुःखसे मरता और मरनेके बाद बार-बार नरकादि एवं आसुरी योनि आदि अधम गतियोंको प्राप्त होता है। अतएव भोगोंसे आसक्ति हटाकर भगवान्में मन लगाओ।

भोग उतने बुरे नहीं हैं, जितनी बुरी भोगोंकी आसक्ति है। उस भोगासक्तिसे ही भोग-कामना उत्पन्न होती है, जो सारे पाप-तापोंकी जननी है। अतएव यदि तुम्हें भोग प्राप्त हैं तो उन्हें भगवान्की सेवामें लगाते रहो। भगवान्की सेवामें लगाना ही भोगोंकी सदुपयोगिता और सार्थकता है। अतएव तुम्हारे पास जो कुछ भी भोग-पदार्थ हैं, उन्हें अपना भोग्य न समझकर भगवान्की सेवा-सामग्री समझो और जहाँ जिस समय जैसी आवश्यकता हो, वहाँ उस समय वैसे ही उन्हें अभिमानशून्य एवं प्रसन्नचित्त होकर उदारतापूर्वक सतत भगवान्की सेवामें लगाते रहो एवं इसीमें अपनेको और उन भोगोंको भी धन्य समझो।

याद रखो—सुख शान्तिमें है। अशान्त मनवाला मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता और भगवान्के अनिवेदित भोग नित्य नयी अशान्ति पैदा करनेवाले होते हैं। तुम शान्ति चाहते हो, पर चाहते हो परम अशान्त, अत्यन्त चञ्चल तथा विनाशशील अपूर्ण भोगोंसे। यह वैसी ही अज्ञतापूर्ण चाह है जैसे अग्निसे शीतलता प्राप्त करनेकी चाह। आग जलायेगी ही, वैसे ही भोग भी अशान्ति तथा जलन ही पैदा करेंगे।

इस जीवनकी परम दुर्लभता और उपयोगिता इसीलिये है कि यही एकमात्र भगवत्प्राप्तिका साधन है। इस मानव-जीवनके अमूल्य क्षण व्यर्थ बीते जा रहे हैं। व्यर्थ ही नहीं, अनर्थमें बीत रहे हैं। तुम जो भोगासक्तिमें लगकर व्यष्टि और समष्टिके लिये भी केवल भोगसुख बटोरनेके असफल प्रयासमें लगे हो और इसके लिये राग, काम, द्वेष, क्रोध, कलह, युद्ध, वैर और हिंसाका आश्रय लिये जीवनको सफल एवं धन्य मान रहे हो, यह तुम्हारा प्रमाद है—उन्माद है। इन प्रयत्नोंके द्वारा तुम जन-सेवा, देश-सेवा, विश्व-सेवा, मानव-सेवा या प्राणिसेवा तो करते ही नहीं हो, निज-सेवा भी नहीं कर रहे हो। प्रमाद विपरीत कर्ममें प्रवृत्त कराता है और विपरीत कर्मका फल भी विपरीत ही होता है।

तुम भ्रमवश सेवाके नामपर ध्वंस और विकासके नामपर विनाशकी ओर जा रहे हो और इसीको जीवनका कर्तव्य मानकर उत्साहपूर्वक इसीमें जुट रहे हो, यह तुम्हारे लिये और भी बुरी बात है। बुराईको भलाई माननेवालेकी बुराई बढ़ती ही जायगी। अतएव तुम चेतो और आत्माके एवं भगवान्के स्वरूपपर गहरा विचार करो और इस सत्यको उपलब्ध करो कि कल्याण त्यागमें है, धन, पद, अधिकार या किसी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिरूप भोगमें नहीं, जीवनका लक्ष्य भगवान् हैं, भोग नहीं और तुम्हारा कर्तव्य त्यागसे पूर्ण वृत्तिसे समस्त प्राप्त तन-मन-धनको तथा प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिको भगवान्की सेवामें समर्पण करना है, भोगोंमें लगाना नहीं।—'शिव'

मनोबोध—१८

(समर्थ स्वामी रामदास महाराजकी वाणी)

खरें शोधितां शोधितां शोधताहे।
मना बोधितां बोधितां बोधताहे॥
परी सर्वही सज्जनाचेनि योगें।
बरा निश्चयो पाविजे सानुरागें॥ १५१॥

सत्य खोजते-खोजते प्राप्त हो जाता है। हे मन! बोध होते-होते होता है। ज्ञान होता है, परंतु यह सब केवल श्रीसद्गुरुकी प्राप्ति और उनका सहवास प्राप्त होनेसे और सद्गुरु-स्वरूपमें व्यक्त सदेह सगुण परमात्माकी कृपा और उनका अनुराग प्राप्त करनेसे ही हो सकता है। अतः सद्गुरुके सत्संगका लाभ करके ब्रह्म-निश्चयको प्राप्त करो।

बहूतां परी कूसरी तत्त्वझाडा।
परी अंतरीं पाहिजे तो निवाडा॥
मना सार साचार तें वेगळें रे।
समस्तांमधें एक तें आगळें रे॥ १५२॥

बहुत प्रकारसे कुशल विवेचनसे तत्त्व-निर्णय किया, किंतु अन्तःकरणमें दृश्य जगत्के प्रति सारासार-विवेक रहना आवश्यक है। जगत्का सारतत्त्व सत्यस्वरूप दृश्यसे भिन्न है। इस सब दृश्यसे वह अलग ही है। अतः इस स्वरूपको खोजकर देखा करो।

नव्हे पिंडज्ञानें नव्हे तत्त्वज्ञानें।
समाधान कांहीं नव्हे तानमानें॥
नव्हे योगयागें नव्हे भोगत्यागें।
समाधान तें सज्जनाचेनि योगें॥ १५३॥

संतोषकी प्राप्ति पिण्ड—ब्रह्माण्डके ज्ञानसे नहीं होती। तत्त्वका ज्ञान बौद्धिक तर्क और अनुमान तथा ज्ञानसे नहीं होता। कर्ममें संलग्न रहनेसे, यज्ञ करनेसे तथा शरीरद्वारा विषयोंके भोगका त्याग करनेसे नहीं होता। वह संतोष और समाधान तथा वह शान्ति तो श्रीसद्गुरुकी कृपादृष्टि और उनकी प्रीतिसे ही प्राप्त होती है।

महावाक्य तत्त्वादिकें पंचिकर्णें।
खुणे पाविजे संतसंगें विवर्णें॥
द्वितीयेसि संकेत जो दाविजेतो।
तया सांडुनी चंद्रमा भाविजेतो॥ १५४॥

'तत्त्वमसि' महावाक्य; वेदान्ततत्त्व, वेदान्तमें आया हुआ पञ्चीकरण सिद्धान्त—ये सब संकेत हैं, जो वाणीसे परे स्थित उस परब्रह्मकी ओर श्रीसद्गुरुद्वारा किये गये हैं। इन संकेतोंका आधार लेकर सद्गुरुकी सहायतासे सच्छिष्यको अपने अन्तःकरणमें ब्रह्मसाक्षात्कार उसी प्रकार करना पड़ता है जिस प्रकार आकाशमें द्वितीयाका चन्द्रमा शाखाका संकेत देकर दिखानेवालेके संकेतके आधारपर व्यक्तिको शाखाको छोड़ चन्द्रमाको स्वयं ही देखना होता है और न दीखनेपर चन्द्रमा दीखनेतक दिखानेवाले व्यक्तिसे बार-बार पूछना होता है और अन्तमें चन्द्रमाको साक्षात् देखना होता है।

दिसेना जनी तेंचि शोधूनि पाहे।
बरें पाहतां गूंज तेथेंचि आहे॥
करीं घेऊं जातां कदा आडळेना।
जनीं सर्व कोंदाटलें तें कळेना॥ १५५॥

जो लोगोंको सहज नहीं दीखता, उसे खोजकर देखो। खोज करके देखनेपर गुप्त बात वहीं है। हाथमें लेकर देखें तो **वह** वस्तु कभी दीखती ही नहीं और सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी समझमें नहीं आती।

म्हणे जाणता तो जनीं मूर्ख पाहे।
अतर्कासि तर्की असा कोण आहे॥
जनीं मीपणें पाहतां पाहवेना।
तया लक्षिता वेगळें राहवेना॥ १५६॥

जो कहता है कि मैंने उस ब्रह्मको जान लिया वह मूर्ख ही दीखता है; क्योंकि उस अतर्क्य आत्मस्वरूपको कोई तर्क करके कैसे जान सकता है? मनुष्य उस आत्मस्वरूपका ज्ञान अहंभावनाके कारण प्राप्त नहीं कर सकता और स्वरूपसे उस ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर उस ब्रह्मसे अलग कौन रह सकता है?

[ब्रह्मज्ञान होनेसे पूर्व कोई उस ब्रह्मको तर्कद्वारा प्राप्त नहीं कर सकता और उसका ज्ञान होनेपर ब्रह्मस्वरूप हो जानेके कारण वाणीसे व्याख्यान नहीं कर सकता। 'मैंपन'के कारण उसे कभी भी देखा नहीं जा सकता। अनुभव आनेपर उससे अलग नहीं रहा जा सकता।]

बहू शास्त्र धुंडाळितां वाड आहे।
जया निश्चयो येक तोही न साहे॥
मती भांडती शास्त्रबोधें विरोधें।
गती खुंटती ज्ञानबोधें प्रबोधें॥ १५७॥

शास्त्र खोजनेपर बहुत हैं, परंतु जिसे '**अहं ब्रह्मास्मि**' इस निश्चयतक सहन नहीं हो सकता, उसके लिये बुद्धिमान् मनुष्य शास्त्रोंके परस्पर विरोधी ज्ञानके कारण आपसमें विवाद करते हैं; किंतु ज्ञान-प्रबोध होते ही बुद्धिकी दौड़ रुककर वह विस्मित हो मुग्ध हो जाती है। वह अनुभव करती है, किंतु वर्णन करने योग्य शब्द नहीं है—इस अवस्थामें पहुँचती है। मति स्वयं ही कुण्ठित होकर रह जाती है।

[आत्मस्वरूपका सम्यक् अवबोध आत्मबुद्धिको ही हो सकता है। देह और शास्त्रोंका अर्थ लगानेवाली बुद्धिको नहीं हो सकता।]

श्रुती न्याय मीमांसकें तर्कशास्त्रें।
स्मृती वेद वेदांतवाक्यें विचित्रें॥
स्वयें शेष मौनावला स्थीर राहे।
मना सर्व जाणीव सांडून पाहें॥ १५८॥

श्रुति, न्याय, मीमांसा, तर्कशास्त्र, स्मृति, वेद तथा विचित्र वेदान्तवाक्य—ये सभी आत्मस्वरूपके ज्ञानमें व्यर्थ सिद्ध होते हैं। जब शेषके हृदयमें उस ब्रह्मका आविर्भाव हुआ, तब वह स्थिर विस्मित होकर देखता ही रह गया। अतः सब तरहसे बाह्य और आन्तरिक ज्ञान (संवेदना)का त्याग करके उन्मन होकर रहना चाहिये।

जेणें मक्षिका भक्षिली जाणिवेची।
तया भोजनाची रुची प्राप्त कैंची॥
अहंभाव ज्या मानसींचा विरेना।
तया ज्ञान हें अन्न पोटीं जिरेना॥ १५९॥

जिसने बाह्य संवेदना-रूपी मक्खी निगल ली, उसे भोजनकी रुचि कहाँ? और भोजन-प्राप्तिकी इच्छा भी कैसे हो सकती है? उसी प्रकार जिसके मनसे अहंकार नष्ट नहीं हो गया, उसे ज्ञानान्न नहीं पचता। भोजनके समान ज्ञान भी उगल दिया जाता है। ज्ञानको आत्मसात् करनेमें व्यक्ति असमर्थ हो जाता है।
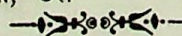
नको रे मना वाद हा खेदकारी।
नको रे मना भेद नानाविकारी॥
नको रे मना शीकऊं पूढिलांसी।
अहंभाव जो राहिला तूजपासीं॥ १६०॥

हे मन! खेदको उत्पन्न करनेवाला वाद-विवाद नहीं करना चाहिये। नाना विकार उत्पन्न करनेवाला भेद नहीं होना चाहिये। जो वृद्ध हैं उन्हें मत सिखाओ। तुम्हारे पास जो अहंकार है, उससे अपने सामनेवालेको भी मत सिखाओ। (पूढिलांसी=सयाना व्यक्ति या सामने उपस्थित व्यक्ति।)

[वाद-विवादसे दोनोंको—वाद-विवाद करनेवाले दोनों पक्षोंको कष्ट होता है, अतः उसका त्याग करो। स्त्री-पुरुष-भेद, ऊँच-नीच-भेद या छूत-अछूत आदि भेद माननेपर समाजमें तथा अन्तरङ्गमें नाना विकारोंकी सृष्टि होती है और उससे कष्ट होता है। अतः भेदका त्याग करना चाहिये। जगत्में सभीको ज्ञान-प्राप्तिका समान अधिकार है। सभी जीवोंकी सृष्टि ब्रह्मसे हुई है तथा ज्ञानके विविध क्षेत्रोंमेंसे ज्ञानकी प्राप्ति सभीको होती है। अपने ज्ञानाहंकारके कारण अपने सामनेवाले सयाने व्यक्तिको या हर किसीको अज्ञानी समझकर नहीं सिखाना चाहिये तथा न अपने ज्ञात विषयोंके ज्ञानसंचयको लक्ष्य करके सामनेवालेको घमंडमें आकर नीचा ही दिखाना चाहिये। अहंकारके कारण किये जानेवाले ज्ञान-प्रदर्शनका त्याग करना चाहिये।]—(क्रमशः)

[अनु०-कु० रोहिणी गोखले]

संसारके लोगोंमें भारतवर्षके प्रति प्रेम और आदर उसकी बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक सम्पत्तिके कारण है।

—प्रो० लुई रिनाउ (पैरिस विश्वविद्यालय)

श्रद्धा, विश्वास और प्रेम

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[गताङ्क पृष्ठ ५२७ से आगे]

जो कुछ भी ईश्वरका विधान है, उसमें हित ही भरा है। कहीं भी अहित दीखता हैं तो यह अपनी समझकी कमी है। अणु-अणुमें सब समय, सब देश और सब वस्तुमें अपना हित ही देखे, यह देखना ही सर्वत्र उसकी दयाको देखना है। विश्वासपूर्वक मान ले, बस, फिर काम समाप्त। उसके आनन्दका ठिकाना ही नहीं है। प्रत्यक्ष शान्ति और आनन्द है। इन बातोंके पढ़ने-सुननेमात्रसे ही महान् शान्ति और आनन्द होते हैं, तो फिर बार-बार मनन करनेसे बड़ी भारी शान्ति और आनन्दका अनुभव क्यों नहीं होगा ?

ईश्वरकी दया सर्वत्र है। सर्वत्र उसके प्रेमकी छटा छा रही है। फिर हम क्यों भय करें? वह प्रेमका महान् समुद्र है, उसमें हम डूबे हुए हैं।—प्रेम-जलसे भींगे हुए हैं—मग्न हो रहे हैं। यह भाव जब दृढ़ हो जायगा, तब शान्ति और आनन्दकी बाढ़ प्रत्यक्ष दीखने लगेगी। फिर प्रेम आनन्दके रूपमें परिणत हो जायगा, वही परमात्माका स्वरूप है। परमात्मा आनन्दमय है। परमात्मा प्रेममय है। वह प्रेम ही प्रत्यक्ष प्रकट होकर दर्शन देता है। इस समय वह प्रेम अदृश्य है। जब प्रेम हो जाता है, तब भगवान् प्रत्यक्ष मूर्तिमान् होकर प्रकट हो जाते हैं। भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णका स्वरूप प्रेमका ही पुञ्ज है। प्रेमके सिवा दूसरी वस्तु नहीं है। प्रेम ही आनन्द है और आनन्द ही प्रेम है। एक ही वस्तु है। भगवान् सगुण-साकारकी उपासना करनेवालोंके लिये प्रेममय बन जाते हैं और निर्गुण-निराकारकी उपासना करनेवालोंके लिये आनन्दमय।

संसारमें भी यह बात है कि जिससे जितना प्रेम बढ़ेगा, उससे उतना ही अधिक आनन्द होगा। यही बात इस विषयमें है। वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही भक्तोंके प्रेमानन्द हैं और वे ही पूर्णब्रह्म परमात्मा मूर्तिमान् होकर प्रकट होते हैं।

तुलसीदासजी कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ॥

हरि सर्वत्र परिपूर्ण हैं। वे प्रेममय हैं। वे प्रेमसे ही प्रकट होते हैं; क्योंकि वे स्वयं प्रेममय हैं।

यदि कहो कि बात तो सही है, पर हमलोगोंमें प्रेम नहीं है तो यह तो आपकी ही मान्यता है न? ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ प्रेम न हो। प्रेमियोंका प्रेम और ज्ञानियोंका आनन्द सर्वत्र है। वेदान्तमें अस्ति, भाति, प्रिय कहा है। समझना चाहिये—प्रिय क्या वस्तु है? प्रिय और प्रेममें कोई अन्तर नहीं है। संसारमें कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जिसमें आनन्द व्याप्त न हो। प्रेम उसका स्वरूप है। वह सर्वत्र है।

भगवान्ने वाल्मीकि मुनिसे रहनेका स्थान पूछा। तब उन्होंने कहा—भगवन्! बताइये, आप कहाँ नहीं हैं? वह प्रेममय परमात्मा बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है।

हममें प्रेम नहीं है, भजन-साधनकी कमीके कारण हमें भगवान् नहीं मिलते—यह हमारी मान्यता नीतिके अनुसार ठीक है। ऐसा मानकर हम भगवान्का भजन करें, सत्संग करें तो आगे जाकर हमारा कल्याण हो सकता है। नीति तो यही है, किंतु इसीसे विलम्ब हो रहा है। एक बात इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। हम कानून माननेवाले हैं, इसलिये भगवान्ने यह कानून बना दिया। पर हम यह मान लें कि कानूनकी बात तो वही है—अपनी दृष्टिसे तो वही बात है, पर प्रभु असम्भवको भी सम्भव करनेवाले हैं—वे अपने दासोंके दोषोंकी ओर देखते ही नहीं। वे बिना ही कारण दासोंपर दया और प्रेम करते हैं। उनका स्वभाव ही ऐसा है। उनके स्वभावपर यदि हम दृढ़ विश्वास कर लें तो फिर हम इस बातकी प्रतीक्षा करें कि एक क्षणका भी विलम्ब क्यों हो रहा है? हम इस बातपर अड़ जायँ कि एक क्षणका विलम्ब क्यों होना चाहिये? बस, फिर विलम्ब हो नहीं सकता।

हमारा प्रेम, हमारी करनी तो विलम्ब ही करनेवाले हैं, किंतु इस अपनी मान्यताको छोड़कर प्रभुकी ओर ध्यान दें तो फिर विलम्ब नहीं होना चाहिये। हमारी धारणा बलवती होनी चाहिये। 'प्रभो! आप तो परम दयालु हैं, आप तो दासोंके दोषोंको देखते ही नहीं। आपकी दया तो प्रत्यक्ष है। आप परम प्रेमी हैं—आपका प्रेम तो बिना हेतु ही होता है। प्रभो ! मैं जब ऐसा मानता था कि प्रभु न्यायकारी हैं, जब हम भजन करेंगे तो वे दर्शन देंगे, उस समयतक तो विलम्ब होना ठीक ही था, किंतु प्रभो ! अब तो मैं यह मानता हूँ कि आप परम दयालु हैं, आपका दया करना ही एकमात्र स्वभाव है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि आप अब एक क्षण भी विलम्ब नहीं करेंगे।' ऐसा दृढ़ विश्वास रखें तो फिर उस कानूनसे जो विलम्ब हो रहा है, वह नहीं हो।

यह एक असम्भव-सी बात लगती है कि एक क्षणमें हमारा कल्याण हो जायगा। लोगोंकी यह धारणा हो रही है कि भगवान् न्यायकारी हैं—जब हम पात्र होंगे, तब वे दर्शन देंगे। यह बात युक्तिसंगत होते हुए भी भगवान्पर लागू नहीं हो सकती। भगवान्के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। असम्भव बात भी सम्भव हो सकती है, प्रभु ऐसे ही प्रभावशाली हैं, प्रभुका प्रभाव ही ऐसा है। वहाँ सारा असम्भव भी सम्भव है। यह बात हम समझ लें तो उसी समय कल्याण हो जाय। दया और प्रेम प्रभुके गुण हैं। असम्भवको भी सम्भव कर देना उनका प्रभाव है। प्रभुके गुणोंमें या प्रभावमें—किसी एकमें भी विश्वास हो जाय तो फिर बस, आप कैसे भी हों, आपको एक-एक मिनट प्रभुका विलम्ब सहन नहीं हो सकेगा। आप प्रतिक्षण व्याकुल होकर प्रतीक्षा करेंगे और प्रभु उसी क्षण प्रकट हो जायँगे। बस, केवल उनकी दयापर निर्भर होना चाहिये। फिर हम-सरीखोंकी तो बात क्या, हमसे भी गये-बीते लोगोंको एक क्षणमें दर्शन हो सकते हैं। हमें दर्शन होनेमें विलम्ब इसीलिये हो रहा है कि हम विश्वास नहीं करते।

प्रश्न—यह निश्चय कैसे हो?

उत्तर—भगवान् और भक्तोंकी दयासे यह निश्चय करानेके लिये ही ये सब बातें कही जाती हैं। जब हम यह मान लें कि भगवान् ही इस प्रकारकी श्रद्धा कराते हैं और इस तरहकी श्रद्धा करानेका वातावरण भी भगवान् ही उपस्थित करते हैं और उनकी अहैतुकी कृपासे ही यह सब सम्भव है तो फिर हम यह क्यों शङ्का करें कि प्रभु कृपा नहीं करते? प्रभु तो कृपा कर ही रहे हैं। तुम जो यह कह रहे हो कि प्रभु कृपा क्यों नहीं करते, यही तो विलम्बका कारण है।

ये जो भगवद्विषयकी बातें हैं—ये ही रहस्यकी बातें हैं। मनुष्य यदि प्रभुके गुण और प्रभावका रहस्य समझ जाय तो उसे धारण ही कर ले। समझकी बात है। समझ लेनेपर काम शेष नहीं रहता। 'संसारके जितने भी पदार्थ हैं, वे विष हैं।'—यह बात समझ लेनेवाला फिर इनका सेवन नहीं कर सकता। जब यह पता लग जाय कि लड्डुओंमें विष है तो भला कौन उन्हें खायेगा। खाता है तो समझना चाहिये कि वह समझा ही नहीं। किसी दरिद्रको पारस मिल जाय और फिर भी वह दरिद्र ही रहे तो समझना चाहिये कि उसने पारसको जाना ही नहीं।

भगवान्के प्रेम और दयाका तत्त्व समझना चाहिये। उनकी दया, प्रेम और प्रभाव अपार हैं। उनका तत्त्व नहीं जानते, तभी हम लाभ नहीं उठाते। भगवान्का प्रभाव भगवान्के लिये थोड़े ही है, वह तो हमलोगोंके लाभ उठानेके लिये ही है। ऐसे प्रभावशालीका प्रभाव संसारके उद्धारके लिये ही है। हृदयसे जो उनका ऐसा प्रभाव मानता है, वही लाभ उठा लेता है।

जगत्में एक दयावान् पुरुष है—उसके पास धन है। उसके धनसे वही लाभ उठाता है, जो उसे पैसेवाला और दयालु मानता है। पैसेवाला मानकर भी यदि दयालु नहीं मानता तो लाभ नहीं उठा सकता और दयालु मानकर भी यदि उसे धनी नहीं मानता, तब भी लाभसे वञ्चित ही रहता है। प्रत्यक्ष बात है। इसी प्रकार महात्मासे लाभ वही उठा सकता है, जो उसे महात्मा समझता है। दूसरे भी उठाते हैं, पर थोड़ा। समझनेवाला तो पूरा

और तुरंत लाभ उठा लेता है। दयालु धनीको जो दयालु नहीं मानता, वह भी लाभ तो उठा सकता है, किंतु थोड़ा। इसी प्रकार भगवान्‌को दयालु न माननेवाले भी लाभ तो उठाते ही हैं। सामान्य भावसे सभी लाभ उठाते हैं, किंतु जो उन्हें दयालु और प्रभावशाली मानता है, वह विशेष लाभ उठा सकता है। अग्निसे सामान्य गर्मी सभीको मिलती है, किंतु जो जानता है कि यहाँ अग्नि पड़ी है, वह अधिक लाभ उठा लेता है।

पारस घरमें पड़ा है, वह लोहेसे छुआ गया—लोहा सोना हो गया। हमने समझा कि काकतालीयन्यायसे हो गया। हमें पता नहीं कि कैसे हुआ तो थोड़ा लाभ है और जान जायँ तो पूरा लाभ उठा सकते हैं।

इसी प्रकार संत-महात्माओंकी दया, प्रेम, प्रभाव अपार हैं। भगवान्‌का अवतार हुआ। अब हम पश्चात्ताप करते हैं कि उस समय हम भी तो किसी-न-किसी योनिमें थे ही—हमने लाभ नहीं उठाया। अब यदि भगवान्‌का अवतार हो तो हम भी लाभ उठायें, किंतु समझनेकी बात है। भगवान् तो भक्तोंके प्रेमसे बाध्य होकर अवतार लेते हैं। भगवान्‌का प्रकट होना तो भक्तोंके अधीन है।

यदि हम ऐसा विश्वास कर लें तो जो लाभ हमें अवतारसे हो सकता है, वह हम उन भक्तोंसे ही उठा सकते हैं। भगवान्‌की तो यह समझ है कि मेरे भक्त मुझसे भी श्रेष्ठ हैं; क्योंकि मैं तो कानूनमें बँधा हुआ हूँ। मैं ही कानूनको बनानेवाला हूँ, इसलिये मैं कानून तोड़ना नहीं चाहता। पर भक्त इतने बलवान् होते हैं कि उनके वशमें होकर तो मुझे कहीं कानूनको भी लाँघना पड़ता है। इसलिये भक्त मुझसे श्रेष्ठ हैं; किंतु भक्तोंकी मान्यता यह नहीं है। वे तो यही समझते हैं कि भगवान् ही सर्वोत्तम हैं। उनसे बढ़कर कोई नहीं। भक्त जब भगवान्‌को सर्वोत्तम मानता है, तब भगवान् भी भक्तको सर्वोत्तम मानते हैं। भगवान् सत्यसंकल्प हैं। उनका मानना सत्य ही है। अतः किसे छोटा कहें किसे बड़ा।

हमलोगोंको तो यही मानना चाहिये कि यह उनकी प्रेमकी लड़ाई है—अपने लिये तो दोनों ही बड़े हैं, हमारी दरिद्रताको मिटानेके लिये तो दोनों ही असंख्यपति हैं। भगवान्‌के भक्त सभी समयमें मिलते हैं, यह ठीक है; किंतु करोड़ोंमें कोई एक बिरला ही महात्मा होता है। भगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझे तत्त्वसे जानता है।' पर भक्त है तो सही न। नहींकी बात तो नहीं कहते। वे सदा ही रहते हैं। भगवान्‌के भक्त न हों तो फिर भगवान्‌की भक्तिका प्रचार ही कौन करे। भगवान् स्वयं अपनी भक्तिका प्रचार नहीं करते। उनके सहायक रहते हैं। अपनी भक्तिका तो कोई भी अच्छा मनुष्य प्रचार नहीं करता, फिर भगवान् तो पुरुषोत्तम हैं। यदि संसारमें भक्त न होते तो भगवान्‌की भक्तिका नाम संसारमें शायद ही रहता, इसीलिये भगवान् भक्तोंके ऋणी होते हैं। आजतक हनुमान्‌जीके ऋणसे न भगवान् मुक्त हुए और न भरतजी। पर हनुमान्‌जी कभी ऐसा नहीं मानते।

जो काम भगवान् नहीं करते, उसे भी भक्त कर देते हैं। इस न्यायसे भगवान्‌से भी बढ़कर भगवान्‌के भक्त हैं।

'अविद्यामें बर्तनेवाले, अपनेको धीर पण्डित माननेवाले और कुटिल गतिवाले मूढ़ उसी प्रकार अनर्थको प्राप्त होते हैं, जैसे अन्धोंके साथ जानेसे अन्धा अनर्थको प्राप्त होता है।' (कठ० १।२।५)

तुलसी—एक जीवनदायक पौधा

(डॉ० श्रीकमलप्रकाशजी अग्रवाल)

तुलसीका हिंदू-संस्कृतिमें अत्यधिक धार्मिक महत्त्व है—इस रूपमें तुलसीकी पूजा की जाती है। तुलसीका हमारे ओषधिशास्त्रसे अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है। लगभग सभी रोगोंमें अनुपान-भेद और मिश्रणके साथ इसका प्रयोग किया जा सकता है। आयुर्वेद-जगत्में प्रत्येक रोगमें काम आनेवाली ओषधियोंमें प्रमुख तुलसी या मकरध्वज है, जिसकी प्रयोग-विधि जान लेनेसे वैद्य संसारके लगभग सभी रोगोंसे लड़ सकता है। विष्णुपुराण, ब्रह्मपुराण, स्कन्दपुराण, देवीभागवतके अनुसार तुलसीकी उत्पत्तिकी अनेक कथाएँ हैं, पर एक कथाके अनुसार समुद्र-मन्थन करते समय जब अमृत निकला, तब कलशको देखकर श्रमकी सार्थकताके वशीभूत होकर देवताओंके नेत्रोंसे अश्रुस्राव हो उठा और उन बूँदोंसे तुलसीवृक्ष उत्पन्न हुए। तुलसीको अन्ताराष्ट्रिय-जगत्में (Ocimum Sanctum) ओसिमम सेंक्टम्के नामसे जाना जाता है, जिसके २२ भेद हैं; किंतु मुख्यतया यह कृष्ण-तुलसी, श्वेत-तुलसी, गन्धा-तुलसी, राम-तुलसी, वन-तुलसी, बिल्वगन्ध-तुलसी, बर्बरी-तुलसीके नामसे जानी जाती है।

तुलसीको सर्वरोग-संहारक-प्रवृत्तिके कारण ही घरमें घरेलू वस्तुकी श्रेणीमें रखा गया है। तुलसीकी गन्धसे मलेरियाके मच्छर दूर भाग जाते हैं। पौधेमें प्रबल विद्युत्-शक्ति होती है, जो पौधेके चारों ओर दो सौ गजतक रहती है। आयुर्वेदके मतसे तुलसीका कटु-तिक्त रस हृदयग्राही और पित्तनाशक है। यह कुष्ठ, पथरी, रक्तदोष, पसलियोंके दर्द, चर्मरोग, कफ और वायुका नाशक है। कृष्ण और शुक्ल दोनोंके गुण समान हैं। तुलसी-काष्ठ धारण करनेसे शरीरकी विद्युत्-शक्ति नष्ट नहीं होती, इसी कारण उसकी माला पहननेका प्रचलन है।

तुलसीके अनेक तान्त्रिक प्रयोग हैं। उनमेंसे प्रमुख ये हैं—यदि किसीने किसीपर मोहन-प्रयोग किया हो तो उस व्यक्तिके द्वारा तुलसी-मञ्जरीको घी या शहदमें डुबोकर श्रीकृष्ण-मन्त्रसे आहुति देनी चाहिये। रविवारको पुष्य-नक्षत्रमें तुलसीकी जड़ उखाड़कर चूर्ण बनाकर रख लें, फिर एक माशातक समान मात्रामें असगंध (अश्वगंधा) के चूर्णके साथ मिलाकर रात्रिमें दूधके साथ पियें तो यह शुक्रसम्बन्धी एवं शीघ्र-पतन-जैसी बीमारियोंको समूल नष्ट कर देगा। राजवशीकरणमें भी तुलसीका प्रयोग बताया गया है। तुलसीके वृक्षकी देखभाल करनेके लिये भी कुछ मुख्य बातें ध्यानमें रखनी चाहिये। प्रथम यदि तुलसीदलको वृक्षसे तोड़ें तो उसकी मञ्जरी और पासके पत्ते तोड़ना चाहिये, जिससे वृक्षकी बढ़वार अधिक हो। यही नहीं, मञ्जरीके तोड़नेसे वृक्ष खूब बढ़ता है। यदि पत्तोंमें छेद दिखायी देने लगे तो कंडोंकी राखका कीटनाशक ओषधियोंके रूपमें प्रयोग करना चाहिये। उबली चायकी पत्तीको धोकर तुलसीकी श्रेष्ठ खादके रूपमें प्रयुक्त किया जा सकता है।

जून, जुलाई, अगस्त—इन मासोंमें तुलसी रोपनेसे शीघ्र अंकुरित होती है। अरविन्द-आश्रम पांडिचेरीकी श्रीमाँका कहना है कि 'कैंसर-रोगमें तुलसीके पत्ते कोषाणुओंके फैलनेमें निरोधक हैं।' जवाहरलाल-स्नातकोत्तर-आयुर्विज्ञान एवं अनुसंधान-संस्थान, नयी दिल्लीके वैज्ञानिकोंके अनुसार तुलसीके ताजे पत्तोंके निरन्तर सेवनसे गर्भ-निरोध हो सकता है। पूर्ण अनुसंधान चालू है।

तुलसी-काष्ठके टुकड़ोंकी माला पहननेसे किसी प्रकारकी संक्रामक बीमारीका भय नहीं रहता। इसके पत्ते दाँतोंसे नहीं चबाने चाहिये; क्योंकि पत्तियोंमें पारा होनेके कारण दन्तशूल हो जाता है, अतः इसे निगलना ही श्रेयस्कर है। बर्रे, भौंरा, बिच्छूके काटनेपर उस स्थानपर तुलसीके पत्तेका रस या पत्ता पीसकर पुलटिसकी भाँति बाँध देनेसे जलन नष्ट हो जाती है। सर्पदंशित व्यक्तिको तुलसीके पत्तोंका रस पिला देनेसे विष उतर सकता है। कुष्ठरोगी, वात-रक्त, मलेरियासे पीड़ित व्यक्तियोंको एकसे सात पत्तेतक निगलना चाहिये। तुलसीकी जड़ थोड़ी मात्रामें पानके साथ सेवन करनेसे वीर्य स्तम्भित होकर स्वप्नदोषकी

बीमारी नष्ट हो जाती है।

हिंदू-शास्त्रोंमें लिखा है कि जिनके घरमें लहलहाता तुलसीका वृक्ष रहता है, उनके यहाँ वज्रपात नहीं हो सकता अर्थात् जब वृक्ष अचानक प्राकृतिक रूपसे नष्ट हो जाय, तब समझना चाहिये कि घरपर कोई भारी संकट आनेवाला है। काली तुलसीका रस शरीरसे पारेका विष नष्ट कर सकता है। तुलसीकी चाय नित्य कई बार पीना सर्वगुणसम्पन्नताका प्रतीक है, जबकि चाय व्यवहारमें हानि पहुँचाती है। कर्णशूल और जुकाममें पत्तीका रस निकालकर गरम करके ठंडाकर डालनेसे तुरंत आराम मिलता है।

मञ्जरी (फूल)को सुखाकर उसके बीज निकालकर बच्चोंको खाना खानेके बाद देना चाहिये, जिससे मुखशुद्धिके साथ-साथ पेटके कृमि भी मर जाते हैं। यह नपुंसकताको नष्ट कर देती है। बाजीकरणकी उत्तम ओषधि है।

मञ्जरी हारमोन्सकी वृद्धि भी करती है। इसमें प्रोटीन भारी मात्रामें है। पत्तोंके रसमें नीबूका रस मिलाकर प्रयोग करनेसे चर्मरोगोंमें अत्यधिक लाभ पहुँचता है, जो कि गुप्त-चर्मरोगोंमें विशेष तौरसे प्रयोग किया जा सकता है। तुलसीके प्रत्तोंमें एक प्रकारका पीली आभा लिये हरे रंगका तेल है। कुछ देरतक रख देनेसे इसमें दाना बनता है। इसका नाम(Besil Camphor) बेसिल कैम्फर है, जो कि ओषधि-उपयोगकी वस्तु है, जिसका उत्पादन कर विदेशोंमें निर्यात कर विदेशी मुद्राका साधन बनाया जा सकता है।

होमियोपैथीमें तुलसी (Ocimum Sanctum) ० से २०० की मात्राका खूब प्रयोग होता है तथा यह ब्रायोनिया, बैस्टीशिया, जेलसिमियम, पल्सेटिला, रसटॉक्स, सल्फर प्रभृति दवाओंके समकक्ष है।

अब इसका धार्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व भी बताना आवश्यक है। अपने घरमें तुलसीका वृक्ष रोपनेसे तथा उसका दर्शन करनेसे ब्रह्महत्या-जैसे पाप भी नष्ट हो जाते हैं। हजारों आम और पीपल लगानेका जो फल है, वह एक तुलसी-वृक्षको रोपनेका है। कार्तिक मासमें तुलसीकी जड़में जो शामको दीपक जलाते हैं, उनके घरमें श्री और संतानकी वृद्धि होती है तथा जो तुलसीकी मञ्जरीको श्रावण-भाद्रपदमें भगवान् विष्णुको चन्दनसहित अर्पण करते हैं, वे लोग मृत्युके पश्चात् विष्णुलोकको जाते हैं। तुलसीको रोपनेसे उसे दूधसे सींचनेपर स्थिर लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। तुलसीकी मृत्तिकाको माथेपर लगानेसे तेजस्विता बढ़ती है। तुलसी-युक्त जलसे स्नान करते समय 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' का जप करनेसे प्रेत-बाधासे मुक्ति मिलती है।

तुलसीके पत्ते एक माहतक बासी नहीं माने जाते। तुलसीके स्तोत्र, मन्त्र, कवच आदिके पठन और पूजनसे भोग और मोक्षकी प्राप्ति होती है तथा समस्त इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं। ऐसा देवीभागवतपुराणमें लिखा है। 'वृन्दा, वृन्दावनी, विश्वपावनी, विश्वपूजिता, पुष्पसारा, नन्दिनी, तुलसी, कृष्णजीवनी'—इन आठ नामोंके जपसे अश्वमेध-यज्ञका फल प्राप्त होता है।

तुलसीकी छायामें श्राद्ध करनेसे पितरोंको अक्षय तृप्ति मिलती है। तुलसीका चयन गणेश-पूजनमें, पूर्णिमा-अमावस्या, एकादशी, संक्रान्ति-काल तथा कार्तिक-द्वादशीमें निषिद्ध है। इसके सिवाय तेलकी मालिश करके बिना नहाये, संध्याके समय, रात्रिको एवं अशुद्ध अवस्थामें भी निषिद्ध है।

संक्षेपमें यह तुलसीका धार्मिक एवं ओषधिजनित महत्त्व है, इसलिये घरमें तुलसीका पौधा लगाना चाहिये।

हिंदुओंकी विद्या

ध्यानकी प्रणालीको उन्हीं लोगोंने जन्म दिया है। उनमें स्वच्छता एवं शुचिताके गुण वर्तमान हैं। उन लोगोंमें विवेक है तथा वे वीर हैं। ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद एवं अन्य विद्याओंमें हिंदूलोग आगे बढ़े हुए हैं। प्रतिमा-निर्माण, चित्र-लेखन, वास्तु आदि कलाओंको उन्होंने पूर्णतातक पहुँचा दिया है। उनके पास काव्य, दर्शन, साहित्य तथा नैतिक शास्त्रोंका संग्रह है। (अल्जहीज ८वीं शताब्दी)

साधकको चेतावनी

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

मनुष्योंमें एक ऐसी दुर्बलता होती है, जो प्रायः असावधान साधकोंको गिरानेका प्रयत्न करती है, जिससे वे अपने मनकी बात गुरुसे, आचार्यसे, पथप्रदर्शकसे करवाना चाहते हैं। श्रीमाताजीने श्रीअरविन्दको एक पत्र लिखा था, उसमें उन्होंने लिखा था कि अमुक साधक यहाँसे इसीलिये चले गये कि वे चाहते थे कि अमुक साधककी भाँति ही माताजी या श्रीअरविन्द हमारे साथ भी व्यवहार करें। श्रीअरविन्दमें या माताजीमें किसी एकके प्रति पक्षपात हो, ऐसी बात वहाँके साधक नहीं मानते। मानना भी नहीं चाहिये और यदि हो भी तो कम-से-कम आत्मसमर्पित साधकके लिये तो यह माननेकी बात है ही नहीं। गुरु जिसके लिये जिस प्रकारका साधन उपयुक्त समझते हैं, वही बताते हैं। रोगीका काम डॉक्टर या वैद्यसे यह कहना नहीं है कि हम अमुक दवा लेंगे, आप अमुक दवा दीजिये। अमुक प्रकारका पथ्य हम लेंगे, आप हमें दीजिये, चाहे रोग कुछ भी हो। जिस प्रकारका शिष्य अधिकारी होता है, गुरु उसके लिये वही मार्ग निर्देश करते हैं और वे ठीक करते हैं; क्योंकि गुरु ही जानते हैं कि प्रत्येक साधकका स्वभाव अलग-अलग होता है।

श्रीकृष्णकी उपासना करनेवाले कोई वृन्दावनके रूपकी, कोई विराट् रूपकी, कोई सारथि-रूपकी उपासना करते हैं। उसी प्रकार भगवान् रामके भी कोई तो बालरूपके, कोई राजसिंहासनासीन रूपके, कोई वनवासी रूपके उपासक हैं। इन सबमें अपनी-अपनी प्रकृतिका भेद होता है। देवीकी उपासनामें जिनकी सौम्य प्रकृति है, उन्हें यदि काली, तारा, धूमावती, छिन्नमस्ताकी साधना बता दी जाय तो वे डर जायँगे। नित्य रक्तपान करनेवाली छिन्नमस्ता आदिकी उपासनामें जो लोग सिद्धहस्त हैं, उग्र प्रकृतिके हैं, वे सौम्य उपासना नहीं कर सकेंगे। नृसिंह भगवान्‌की उपासना सब नहीं कर सकते। नृसिंह भगवान्‌का जो भयानक रूप है, उसकी उपासना वे ही करेंगे, जो कुछ उग्र प्रकृतिके हैं। सौम्य प्रकृतिके लोग अपनी प्रकृतिके अनुरूप भगवान्‌का रूप अथवा भगवान्‌का स्वभाव पायेंगे, तब उसमें उनका मन लगेगा। यद्यपि भगवान् एक हैं तथापि उपासनाओंके अनेक भेद हैं। अनुभवी गुरु, आचार्य, पथ-प्रदर्शक ही बतायेंगे कि उपासककी रुचि, दृष्टि और अधिकारके अनुसार वह किस प्रकारकी साधनाका अधिकारी है। यह साधक या शिष्य स्वयं नहीं बता सकता। जिनकी बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म है, वे सांख्य, वेदान्त और न्यायको समझेंगे और जिनकी बुद्धि बहुत सूक्ष्म नहीं है, उनके सामने यदि न्याय या सांख्य रख दिया जाय तो उनकी समझमें नहीं आयेगा। उन्हें तो उनके लिये उपयोगी साधना ही बतानी चाहिये।

गुरु ही उपयुक्त अधिकारी देखकर साधना बताते हैं, शक्तिपात करते हैं। शक्तिका आदान होता है। शक्तिमान् गुरु शिष्यको जो शक्ति देता है, उसे शक्तिपात कहते हैं। यद्यपि शक्तिपातके द्वारा गुरुमें देनेकी सामर्थ्य है फिर भी शिष्य ग्रहण करनेयोग्य पात्र है या नहीं, यह देखना होगा। जिस मनुष्यमें शक्तिको ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं है, उसपर यदि शक्तिपात कर दिया जाय तो या तो शक्ति व्यर्थ हो जायगी या उस व्यक्तिका नाश हो जायगा। अतः जो साधक जिस समझ या बुद्धिका है, जिसका जो अधिकार है और जो जैसी क्रिया करनेमें समर्थ है, उसके लिये उसी प्रकारका साधन बताया जाता है। जो जैसा रोगी है, उसके लिये उसी प्रकारकी दवा बतायी जाती है। चिकित्सकका उद्देश्य प्रत्येक रोगीको स्वस्थ एवं नीरोग करना होनेपर भी प्रत्येक रोगीके लिये समान दवा नहीं होती।

श्रीअरविन्द और श्रीमाताजीने सबको समान नहीं समझा। सबको समान-रूपसे शिक्षा नहीं दी। सबको समान-रूपसे आदेश नहीं दिया। इससे एक साधक रुष्ट होकर आश्रम छोड़कर चला गया। वहाँसे जानेपर उसकी और भी दुर्गति हुई। उसका साधन और भी कमजोर होता गया, तब उसने पूछा कि कैसे अब मेरी स्थिति सुधरे? उसे उत्तर मिला कि तुमने मार्ग दिखानेवालेको ही मार्ग दिखाना चाहा, परंतु जिस रास्तेपर तुम कभी गये नहीं, रास्तेकी अनुभूति नहीं, कभी मार्ग देखा नहीं, मार्गकी अड़चनोंको जाना नहीं, तो मार्गका ज्ञान कैसे होगा? जाननेवाला मार्गदर्शक ही वह

सब जानता है, गया हुआ है, वह समझता है कि कौन-सा मार्ग कहाँ जाता है, कैसे जाता है। उसके निर्देशानुसार तो तुम किये नहीं; उलटा उसे ही उपदेश देने लगे। जैसे मार्गदर्शकको अनभिज्ञ यात्री मार्ग बताता है, इसी प्रकार साधक कहीं-कहीं अपने पथप्रदर्शकोंको भी मार्ग बताने लगते हैं कि 'वे यों करें या यों न करें?' उनमें साधक पक्षपात देखता है, वह सोचता है कि अमुकके साथ तो इनका विशेष प्रेम है; पर हमारे साथ नहीं। इस प्रकार वह दोषदर्शन करने लगता है, जो साधकके लिये बहुत बड़ी विघ्नकी बात है। साधकने जिसे श्रद्धापूर्वक अपना मार्गदर्शक मान लिया, उसके प्रति वह समर्पित होता है, उसका कथन ही उसके लिये वेदवाक्य होता है, होना ही चाहिये। बिना श्रद्धाके काम नहीं चलता। जहाँ श्रद्धा और अपनी समझ अड़ जाती है वहाँ साधना नष्ट हो जाती है; क्योंकि अपनी समझमें होता है अभिमान और श्रद्धा होती है समर्पणमयी। जब समर्पण-बुद्धि हट जाती है और मनमें आता है कि यहाँ आकर हमने ठीक नहीं किया, तब साधक निन्दा करने लगता है, दोष देखने लगता है। दोष देखनेकी आँख बनते ही उसे पग-पगपर प्रत्येक क्रियामें दोष दिखायी देता है। एक नियम है, जो सबपर लागू होता है, कि जहाँ राग है वहाँ दोष भी गुण दीखते हैं और जहाँ द्वेष है वहाँ गुण भी दोष दीखते हैं। चाहे वह कोई ही क्यों न हो। इस प्रकार गुरुमें तथा भगवान्‌में भी जहाँ द्वेष-बुद्धि हो जाती है, वहाँ ऐसा दीखता है कि यहाँ भगवान्‌ने भूल की, वहाँ आचार्यने भूल की, यहाँ गुरुने भूल की, यहाँ ऐसा करना चाहिये था। इन्होंने यों नहीं किया तो क्यों नहीं किया। साधक इसकी मीमांसा करने लगता है; पर उसकी बुद्धि वहाँतक पहुँचती नहीं। कौन कैसा संत है, इस बातको या तो भगवान् जानते हैं या संत स्वयं जानते हैं। दूसरा क्या तौलेगा? किसी ईंट या पत्थरको तौलनेवाले बड़े काँटेपर यदि तौलनेके लिये हीरा रख दिया जाय तो परिणाम क्या होगा? हीरा किसी छेदमें घुस जायगा और पलड़ा जरा-सा भी नीचा नहीं होगा। पत्थर तौलनेके, लकड़ी तौलनेके, कोयला तौलनेके काँटेपर हीरा नहीं तौला जाता। इसी प्रकार जिसकी बुद्धि संसारके भोगोंमें संलग्न है, संसारके प्रपञ्चमें जिसका जीवन सना हुआ है, उसकी बुद्धि संतका तौल नहीं कर सकती। उसकी बुद्धिका काँटा संतके तौलनेयोग्य है ही नहीं। इसलिये जिस साधक या अनुयायीका अपने पथप्रदर्शकके अथवा गुरुके प्रति समर्पण-भाव है, वह उन्हें यदि मार्ग बताता है, सलाह देता है कि हमारे लिये आपको यह करना चाहिये अथवा अमुकके लिये वह करना चाहिये। इसी प्रकार वह यदि प्रश्न करता है कि आपमें बुद्धिभेद क्यों है अथवा आप दो तरहकी साधना क्यों बताते हैं? तो वह साधक अपने लक्ष्यपर कैसे पहुँचेगा? मधुमेहके रोगीको कहा ही जायगा कि तुम मीठा मत खाना और यदि किसी रोगीका पित्त बढ़ा हुआ होगा तो वैद्य उसे मिश्री खानेको देगा। मधुमेहका रोगी यदि मूर्खतासे कहे कि इसे तो आपने मिश्री दे दी और हमें मिश्री दी नहीं, यह आपने पक्षपात किया। यह आपमें दोष है कि इसे तो आपने मीठी मिश्री दे दी और मुझे नहीं दी। यदि किसीको बहुत दिनोंसे ज्वर आ रहा है तो उसे तो वैद्य चिरायता, नीम आदि कड़वी दवाइयाँ देगा। रोगी यदि कहेगा कि हमें मीठा शरबत नहीं दिया, उसे दे दिया। वह क्या समझे कि दवा होती है रोगके अनुसार तथा प्रत्येक दवा प्रत्येकको नहीं दी जाती। दवाके निर्णय करनेका काम रोगीका नहीं है, वह काम तो निपुण डाक्टरका, वैद्यका, चिकित्सकका है। इसी प्रकार साधकोंमें जब भ्रम आ जाता है और अपने पथप्रदर्शकके प्रति दोषबुद्धि हो जाती है, तब उसे बतायी हुई साधनासे उसका काम नहीं चलता; क्योंकि उसकी श्रद्धा वहाँसे हट जाती है। उसे तो बात-बातमें दिखायी देता है कि यहाँ गुरुने ठीक नहीं किया। वह भले ही कहे कि यह मेरा दोष है, मेरी भूल है कि मैं आपकी बात मानता नहीं। चाहे भूल या दोष स्वीकार करे, कुछ भी करे, पर मार्ग तो अवरुद्ध हो ही गया। उसने रास्तेपर चलना बंद कर दिया, क्योंकि उसे संदेह हो गया।

एक साधकके लिये बहुत आवश्यक है कि वह अपने मार्गपर श्रद्धापूर्वक चलता रहे। यह बात दूसरी है कि श्रद्धा विवेकवती है या अंधी है। वास्तविक श्रद्धा तो अंधी ही होती है। श्रद्धामें विश्वासकी प्रधानता होती है। साधक इतना अवश्य देख ले कि यदि किसी गुरु, आचार्य, संत, महात्माकी बतायी हुई पद्धतिसे काम करनेपर उसमें पापबुद्धि आती है, उसका मन विषयोंकी ओर अधिक दौड़ने लगता है, भगवान्‌में रुचि घटती है, तब तो उसे सावधान हो जाना चाहिये।

अन्यथा अपनी साधन-पद्धति चलाता रहे तथा दूसरेकी पद्धतिकी ओर न देखे। अपनी पद्धतिको ठीक-ठिकानेसे सती स्त्रीकी भाँति निभाता रहे, उसपर चलता रहे, न संदेह करे, न दूसरेकी ओर देखे, यही साधकका स्वधर्म है—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'

जिसके लिये जो भी साधन निश्चित है, वह अपने साधनमें सावधानीके साथ श्रद्धापूर्वक संलग्न रहे। दूसरा साधक उससे अच्छा साधन करता है तो वह भी वैसा क्यों न करे, यह भावना आते ही उसे अपने साधनमें संदेह होने लगता है। अपने साधनमें संदेह होनेपर ऊपरकी भक्ति तो रह जाती है, पर साधना मिट जाती है।

वास्तवमें जहाँ बहुत अधिक लोग होते हैं, साधकोंका ढेर लग जाता है, वहाँ प्रायः गड़बड़ हुआ करती है। जहाँ अपनी-अपनी विभिन्न रुचियोंको लेकर तथा विभिन्न गुप्त या प्रकट कामनाओंको लेकर साधक आया करते हैं, वहाँ गुरुलोग भी किसी प्रकार अपना पिण्ड छुड़ाया करते हैं।

समर्थ स्वामी रामदासके जीवनकी घटना है कि उनके यहाँ बड़ी भीड़ लग गयी। दिखानेके लिये सब लोग समर्थके भक्त ही थे। सभीमें दिखावेकी होड़ थी। सभी पहले पूजा करना चाहते थे। पूजा-ही-पूजामें समर्थजी विह्वल हो गये। अतः उन्होंने सबकी परीक्षा लेनेकी बात मनमें सोची! एक दिन उन्होंने अपने पैरमें ऊँचा-सा पट्टा बाँध लिया और लेटकर कराहने लगे। सदाकी भाँति भक्तलोग पूजा करनेके लिये आये। समर्थने उनसे कहा—'आज तो हमारे पैरमें बड़ा दर्द हो रहा है; अतः हम पूजा नहीं करायेंगे।' भक्तजन कहने लगे—'महाराज! हमलोग श्रद्धापूर्वक आये हैं, ऊपरसे दो फूल ही चढ़ा देते हैं, फिर चले जायँगे।' इस प्रकार किसीने पूजा की, कोई सहमा, कोई रुका भी। एकने पूछा कि 'महाराज! क्या कष्ट है और कैसे अच्छा हो सकता है?' वस्तुतः झूठ-सचकी परीक्षा करने-हेतु यह स्वाँग रचा गया था। अतः उन्होंने कहा—'एक बड़ा-सा फोड़ा हो गया है और ऊपरतक मवाद भर गयी है। अब इस मवादके निकलनेसे ही काम चलेगा।' भक्तने पूछा—'महाराज! मवाद कैसे निकल सकती है?' गुरुजीने उसका यह उपाय बताया कि 'हम फोड़ेमें जरा-सा छेद करते हैं और कोई व्यक्ति उस मवादको चूस ले। यद्यपि मवादको चूसनेवाला मर जायगा, पर हम तो अच्छे हो जायँगे।' कहीं बड़ाई मिलती या नाम होता तो सभी तैयार हो जाते, पर मरनेकी बात सुनकर किसीको छींक आने लगी, किसीको लघुशङ्का लग गयी, किसीके घरसे बुलावा आ गया, किसीको कुछ बहाना मिल गया और किसीको कुछ। इस प्रकार आश्रम खाली हो गया। उन भक्तोंमें एक सच्चा आदर्श शिष्य भी था। उसके चूसनेके लिये प्रस्तुत होनेपर उन्होंने वहाँ छेद कर दिया। जब वह चूसने लगा तब उसे बड़ा सुन्दर स्वाद आने लगा। वास्तवमें दक्षिण भारतमें होनेवाले लम्बे और कुछ मोटे चोंचदार तोतापुरी आमको समर्थजीने परीक्षा-हेतु वहीं बाँध दिया था। जिसके कारण पैर फूल गया था। उन्होंने चोंचके स्थानपर छेद कर दिया था। उसमें तो आमका विशुद्ध मीठा रस भरा था। उस शिष्यको वह बड़ा ही मीठा लगा। वहाँ कुछ अन्य व्यक्ति खड़े थे, जो देखना चाहते थे कि देखें इसे कौन चूसता और मरता है। चूसनेसे सारा-का-सारा पैर पिचक गया। चूसनेवालेसे न मरनेका कारण पूछनेपर उसने उत्तर दिया कि 'मैंने तो आमका खूब बढ़िया रस पिया।' यह देखकर एकने कहा—हमें पता होता तो हमीं न पी लेते। हमारा भी नाम होता। परंतु इसने आमका रस समझकर थोड़े ही पिया था। इसने तो प्राणदान करनेकी बात मनमें पक्की निष्ठाके साथ रखकर निश्चयपूर्वक मवाद समझकर ही पिया था। वास्तवमें अन्य लोगोंमें निष्ठा नहीं थी। प्रायः ऐसी बात बहुत अधिक हुआ करती है। बहुत थोड़े-से सच्चे साधक हैं, जो वास्तवमें अपने-आपको अर्पण कर चुके होते हैं।

प्रे०—श्रीमती कविता डालमिया

जीवित ही मरेके समान

नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते। न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः॥

'इस संसारमें जिसका कर्म न तो धर्मके लिये होता है, न वैराग्यके लिये और न तीर्थपाद भगवान्की चरण-सेवाके ही लिये होता है, वह जीते हुए मृतक-तुल्य है।'

भागवतीय प्रवचन—२०

शुकदेवजीका राजा परीक्षित्‌को उपदेश

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

राजन्! मेरे दुःखका कारण आप ही सोचें। राजा परीक्षित् समझ गये कि वह कठोर पुरुष, जो गाय-बैलोंको सता रहा है, कलि ही है! यह कलि ही धर्मनिष्ठोंको सताता है। जब वे कलिको दण्ड देनेके लिये तैयार हुए तब वह राजाकी शरणमें आया। उसने परीक्षित्‌के चरणोंका स्पर्श किया। इसी कारण राजा परीक्षित्‌की मति भ्रष्ट हुई।

जिस मनुष्यके स्वभाव और चरित्रसे हम अपरिचित हों, उसका हमें कभी स्पर्श न करना चाहिये। जिस व्यक्तिका तुम स्पर्श करोगे, उस व्यक्तिके कुछ-न-कुछ परमाणु तुम्हारे शरीरमें प्रविष्ट हो जायँगे। पुण्यशाली व्यक्तिके परमाणु पवित्र होते हैं और पापी व्यक्तिके परमाणु अपवित्र। जैसे व्यक्तिका स्पर्श किया जायगा वैसे व्यक्तिके परमाणु स्पर्शकर्ताके शरीरमें प्रवेश कर जायँगे।

राजा परीक्षित्‌ने कलिको स्पर्श करने दिया तो उनकी बुद्धिमें विकार आ गया। राजा जानते थे कि यह कलि है, अपवित्र है, अतः इसे दण्ड देना चाहिये। दुष्टोंको दण्ड देना राजाका धर्म है। फिर भी उन्होंने कलिके प्रति दया दिखायी। उन्होंने उससे कहा—'मैं तुझे मारूँगा नहीं, किंतु तू मेरे राज्यकी सीमासे बाहर चला जा, मेरे राज्यमें तेरे लिये कोई स्थान नहीं है।'

कलिने राजासे प्रार्थना की और पूछा—'मैं अब कहाँ जाऊँ?' तब परीक्षित्‌ने उसे चार स्थानोंमें रहनेकी अनुमति दी। वे स्थान हैं—द्यूत, मदिरा, नारीसंग और हिंसा। इन चार स्थानोंमें क्रमशः असत्य, मद, आसक्ति और निर्दयता—ये चार अधर्म रहते हैं।

जुए और सट्टेका धन जिसके घरमें आता है, वहाँ उसके साथ-साथ कलि भी आ जाता है। जहाँ सट्टा वहाँ बट्टा (दाग) और यह बट्टा (दाग) जीवनमें पक्की तरह लग जाता है। कई लोग ऐसे भी हैं जो जुए और सट्टेमें धन कमाते हैं और फिर उसका दान करते हैं। वे मानते हैं कि चलो, दान किया और मेरी शुद्धि हो गयी, परंतु यह सब व्यर्थ ही है। यह सब अनीतिका धन है, ऐसे धनके दानसे कभी जीवन शुद्ध नहीं होता।

अधर्मका धन प्रभुको स्वीकार्य है ही नहीं। शास्त्रनिषिद्ध भोज्य वस्तुएँ जहाँ खायी जाती हैं, जहाँ जान-बूझकर हिंसा की जाती है, वहाँ कलि अवश्य रहता है।

इन चार स्थानोंकी प्राप्ति होनेपर भी जब कलिको संतोष न हुआ, तब उसने राजासे कहा कि 'ये चारों स्थान तो गंदे हैं, कोई अच्छा-सा स्थान मुझे रहनेके लिये मिले तो ठीक है।' तब परीक्षित्‌ने उसे सुवर्णमें रहनेकी अनुमति दे दी।

अशुद्ध साधनसे जब सुवर्ण घरमें आता है तब कलि भी उसके साथ आ धमकता है। अनीति और अन्यायसे प्राप्त धनमें कलि है। अनीतिद्वारा धन कमानेवालेको तो कलि दुःखी करता ही है, पर उस धनको ग्रहण करनेपर उसका उत्तराधिकारी भी दुःखी होता है।

असत्य, मद, काल, वैर और रजोगुण—ये पाँचों जहाँ न हों, वहाँ आज भी सत्ययुग ही है।

जिसके घरमें नित्य प्रभुकी सेवा और स्मरण होता है, जिसके घरमें आचार-विचारका पालन होता है, उसके घरमें कलिका प्रवेश कभी नहीं होता।

बैलके तीनों पग परीक्षित्‌ने फिर लगा दिये अर्थात् धर्मकी फिर स्थापना की।

कलिने सोचा कि राजाने पाँच स्थान रहनेके लिये दिये हैं। अब कोई कष्ट नहीं है। इससे राजा परीक्षित्‌के घरमें भी कभी प्रवेश कर जाऊँगा।

एक दिन परीक्षित्‌को जिज्ञासा हुई कि देखूँ तो सही कि मेरे दादाने मेरे लिये घरमें क्या-क्या रख छोड़ा है। उन्हें एक पेटीमेंसे सुवर्णमुकुट मिला। बिना कुछ सोचे ही राजाने उसे पहन लिया। यह मुकुट जरासंधका था। जरासंधके पुत्रने सहदेवसे वह मुकुट माँगा था कि मेरे पिताका मुकुट मुझे दे दो। मुकुट लौटानेकी सहदेवकी

इच्छा न थी। फिर भीम बलात्कारसे यह मुकुट लाये थे। अतः यह अनीतिका धन था। इसीलिये उसे पेटीमें बंद करके रखा गया था। आज परीक्षित्ने उसे देखा तो पहन लिया। वह मुकुट अधर्मसे लाया गया था, इसलिये उसके द्वारा कलिने परीक्षित्की बुद्धिमें प्रवेश किया।

इस मुकुटको पहनकर राजा परीक्षित् वनमें शिकार खेलने गये। यहाँ **'एकदा'** शब्दका प्रयोग किया गया है। राजा वैसे तो कभी शिकार करनेके लिये जाते नहीं थे, किंतु आज गये हैं। उन्होंने अनेक जीवोंकी हत्या की। मध्याह्नकाल होनेपर राजाको भूख और प्यास सताने लगी। तब उन्होंने एक ऋषिके आश्रममें प्रवेश किया। वहाँ शमीक ऋषि समाधिमें लीन थे।

कोई संत जप-ध्यानमें बैठे हों तो वहाँ नहीं जाना चाहिये। यदि जाना पड़े तो प्रणाम करके लौट आना ठीक है। उस समय लौकिक बात न छेड़े; क्योंकि संतकी इच्छा प्रभुके साथ एक होनेकी होती है। वहाँ लौकिक बातें उनके तप-ध्यान-भजनमें बाधारूप बनेंगी।

परीक्षित्ने सोचा कि मैं इस देशका राजा हूँ, फिर भी ऋषि मेरा स्वागत क्यों नहीं करते हैं? सम्भवतः स्वागत न करनेका नाटक ही वे कर रहे हों। राजाकी बुद्धिमें कलिने प्रवेश किया था, अतः शमीक ऋषिकी सेवा करनेकी अपेक्षा राजा ऋषिसे सेवा लेनेकी अपेक्षा कर रहे हैं। उन्हें दुर्बुद्धिने आ घेरा। फिर तो उन्होंने एक मरा हुआ साँप शमीक ऋषिके गलेमें डाल दिया। इस प्रकार राजाने तपस्वीका अपमान किया। अन्यको अपमानित करनेवाला स्वयं अपना ही अपमान करता है। अन्यको छलनेवाला स्वयं अपनेको ही छलता है; क्योंकि सभीमें आत्मा तो एक ही है।

राजाने शमीक ऋषिके गलेमें तो मरा हुआ साँप पहनाया, किंतु ऐसा करके उन्होंने अपने गलेमें मानो जीवित साँप ही पहन लिया। सर्प साक्षात् कालका स्वरूप है। सभी इन्द्रिय-वृत्तियोंको अन्तर्मुख करके प्रभुमें स्थिर हुआ ज्ञानी जीव ही शमीक ऋषि है। ऐसे ज्ञानी जीवके गलेमें सर्पके डालनेका अर्थ है कालको मारना। जितेन्द्रिय योगीका काल स्वयं मरता है अर्थात् काल उसे प्रभावित नहीं कर सकता। राजाका अर्थ है रजोगुणमें फँसा भोगप्रधान विलासी जीव। ऐसोंके गलेमें सर्प लटकता है अर्थात् जीवित सर्प उसके गलेमें है।

शमीक ऋषिके पुत्र शृंगीने जब यह बात सुनी तब वह क्रोधसे भड़क उठा कि ऋषिका अपमान करनेवाला यह राजा क्या समझता है अपनेको? उसने सोचा कि ब्रह्मतेज अब भी जगत्में विद्यमान है। मैं राजाको शाप दूँगा। शृंगीने राजाको शाप दिया कि 'तूने तो मेरे पिताके गलेमें मरा हुआ साँप डाला है, आजसे सातवें दिन तुझे तक्षकनाग डँसेगा।'

परीक्षित्ने अपने सिरसे मुकुट उतारा तो तुरंत उन्हें अपनी भयंकर भूलका भान हुआ। वे सोचने लगे कि मैंने आज महान् पाप किया जो मतिभ्रष्ट होकर ऋषिका अपमान कर दिया।

जब मति भ्रष्ट हो जाय तो मान लो कि कुछ-न-कुछ अशुभ अवश्य होगा। पाप हो जाय तो उसका विचार करके अपने शरीरको दण्ड दो। भोजन करनेसे पहले सोच लो कि मेरे हाथोंसे कुछ पाप तो नहीं हुआ है? जिस दिन पाप हुआ हो, उस दिन उपवास करोगे तो फिर कभी पाप नहीं होगा।

धन्य हैं राजा परीक्षित्! उन्होंने जीवनमें केवल एक बार ही पाप किया था, किंतु पाप हो जानेके बाद वे पानीतक नहीं पिये। ऋषिकुमारद्वारा दिये गये शापकी बात सुनकर उन्होंने सोचा कि अच्छा ही हुआ कि मुझे मेरे पापका दण्ड मिल गया।

परीक्षित् सोचते हैं कि मैं संसारके विषय-सुखोंमें फँस गया था, अतः मुझे सावधान करनेके लिये ही प्रभुने मुझपर यह कृपा की है। मुझे यदि शाप न मिला होता तो मैं भला कब वैराग्य धारण करता? मेरे लिये प्रभुने शापावतार धारण किया है।

मृत्यु सिरपर मँडरा रही है, ऐसा सोचते रहोगे तो पाप नहीं होगा। परीक्षित्ने गृह-त्याग किया और वे गङ्गातटपर आये। उन्होंने गङ्गा-स्नान किया और यह

निश्चय किया कि अन्न-जलका त्याग करके अब प्रायश्चित्त-व्रत करूँगा। बड़े-बड़े ऋषियोंने यह बात सुनी तो बिना बुलाये ही वे राजासे मिलने आ गये। उन्होंने सोचा कि परीक्षित् अब राजा नहीं, राजर्षि बन गये हैं। राजाके विलासी जीवनका अब अन्त हो गया है। राजाका जीवन अब बदल गया है। इसीलिये वे सभी परीक्षित्से मिलने आये। परीक्षित्ने खड़े होकर सबको प्रणाम करके उनकी पूजा की।

राजाने अपने पापकी बात उन ऋषियोंको बता दी। वैसे तो सभी लोग पापको छिपाते हैं और अपने पुण्यकी बातें सबके सामने प्रकट करते रहते हैं। पापको छिपाओ मत और पुण्यको प्रकट मत करो। समाजके सामने पापको स्वीकार करनेसे पाप करनेकी आदत छूट जाती है।

परीक्षित्ने कहा—'मैंने पवित्र संतके गलेमें मरा हुआ साँप डाल दिया। मैं अधम हूँ। मेरा उद्धार कीजिये। मैंने सुना है कि पापीको यमदूत मारते-पीटते ले जाते हैं। अतः मेरा मरण सुधरे, ऐसा कोई उपाय आपलोग बतायें, मुझे डर लगता है; क्योंकि मैंने अभीतक मरनेकी कोई तैयारी भी नहीं की है।'

परीक्षित्ने मृत्युकी वेदनाका विचार किया। जन्म-मरणके दुःखके विचारसे पाप छूटेगा। उन्होंने ऋषियोंसे कहा कि 'आपलोग कुछ ऐसा प्रयत्न करें कि सात दिनमें मुझे मुक्ति मिल जाय। मुझे आसन्नमृत्युके कर्तव्य आदि बताइये। अब समय अधिक नहीं है। यदि ज्ञानकी लम्बी-चौड़ी बातें करेंगे तो समय पूरा हो जायगा। मुझे ऐसी बातें बताइये और मुझे ऐसा मार्ग दिखाइये, जिससे मैं परमात्माके चरणोंमें लीन हो जाऊँ। मुझे ऐसी कथा सुनाइये कि जिससे मेरी मुक्ति हो जाय।'

ऋषिगण सोचने लगे कि हम कितने ही वर्षोंसे तपश्चर्या कर रहे हैं, फिर भी मुक्ति मिलेगी या नहीं, उसकी चिन्ता रहती है। हम भी मृत्युसे डरते हैं, अन्त समयमें प्रभुका नाम होठोंपर आना कठिन बात है। मात्र सात ही दिनमें राजाको कैसे मुक्ति मिलेगी? यह तो अशक्य ही है। इससे सब ऋषि चुप हो गये। फिर वे विचारने लगे कि सात ही दिनमें मुक्तिका पाना असम्भव-सा ही है। मृत्युके पासका समय अति संकटपूर्ण होता है। महान् ज्ञानियोंको भी मृत्युका भय लगता है। भगवान् रामका नाम शीघ्र होठोंपर नहीं आता। रामचरितमानसमें वालीने कहा है—

जनम जनम मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥

अतः कोई भी ऋषि राजाको उपदेश देनेको तैयार न हुआ। किसीमें भी बोलनेका साहस न था। अब परीक्षित् सोचते हैं कि समर्थ होनेपर भी ये ऋषि मुझे उपदेश क्यों नहीं दे रहे हैं? फिर उन्होंने निश्चय किया कि जगत्के जीव चाहे मेरा त्याग करें, मैं भगवान्का आश्रय लूँगा। भगवान् नारायण कृपा करेंगे। अब समय अधिक नहीं है। मैं किसकी शरण लूँ? मैं अपने परमात्माकी ही शरण लूँ। वे तो मेरी उपेक्षा नहीं करेंगे। मैं पापी तो हूँ, किंतु पाण्डववंशी हूँ। अब बिना ईश्वरके मेरा कोई नहीं है।

परीक्षित्ने ईश्वरका आश्रय लिया। भगवान्की स्तुति की। द्वारकानाथको स्मरण किया। मैंने कोई सत्कर्म नहीं किया। ये ब्राह्मण मुझे उपदेश नहीं दे रहे हैं; क्योंकि मैं अधम हूँ। जिस परमात्माने, जब मैं माताके गर्भमें था तब ब्रह्मास्त्रसे मेरी रक्षा की थी, वे आज भी मेरी रक्षा अवश्य करेंगे। मैं पापी तो हूँ, किंतु भगवान्का हूँ। नाथ! मैं आपका हूँ।

दुष्टतमोऽपि दयारहितोऽपि कृष्ण तवास्मि न चास्मि परस्य।

हे द्वारकानाथ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आपने जब मेरा जन्म उजागर किया है तब मेरी मृत्यु भी सुधारिये।

परमात्माने शुकदेवजीको प्रेरणा दी कि वहाँ जाओ। शिष्य योग्य है। परीक्षित्के जन्मको सुधारनेके लिये द्वारकानाथ स्वयं आये थे, किंतु मुक्ति देनेका अधिकार केवल शिवजीको है, इसलिये भगवान्ने शिवजीसे कहा। अतः भगवान् शिवके अवतार शुकदेवजी वहाँ पधारे। संहारका काम शिवजीका है, अतः परीक्षित्की मृत्युको सुधारनेके लिये शुकदेवजी पधारे।

शुकदेवजी दिगम्बर हैं। उनका वासनाका वस्त्र छूट गया था। सोलह वर्षकी अवस्था है। कमरपर न तो मेखला है और न लंगोटी। आजानुबाहु हैं। वक्षःस्थल विशाल है । दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर स्थिर है। मुखपर बालोंकी लट बिखरी हुई है। वर्ण श्रीकृष्णकी भाँति श्याम है और तेजस्वी भी ।

शुकदेवजीपर बालक धूल उड़ाते हुए कह रहे थे—नागा बाबा चला, नागा बाबा चला; किंतु शुकदेवजी मानो यह सब कुछ जानते ही नहीं हैं। वृत्ति ब्रह्माकार है। वे ब्रह्मचिन्तन करते हुए देहसे अभान हो गये हैं। परमात्माके ध्यानमें जो देहभान भुलाता है, उसके शरीरकी देखभाल परमात्मा स्वयं करते हैं। सोचते हैं कि इसे देहकी आवश्यकता नहीं है, किंतु मुझे तो है।

चारों ओर प्रकाश फैल गया। कहीं सूर्यनारायण तो धरतीपर नहीं उतरे ? मुनि जान गये कि ये तो शंकरके अवतार श्रीशुकदेवजी पधारे हैं। सभामें शुकदेवजी पधारे। व्यासजी भी उस सभामें थे। शुकदेवजीका नाम सुनते ही व्यासजी भी भावविभोर हो गये।

राजाके कल्याणके हेतु पधारे हुए शुकदेवजी सुवर्ण-सिंहासनपर विराजे। परीक्षित्ने आँखें खोलीं। मेरा उद्धार करनेके लिये इन्हें प्रभुने भेजा है। अन्यथा मुझ-जैसे पापी और विलासीके यहाँ ये नहीं आते। परीक्षित्ने शुकदेवजीके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और अपना पाप उन्हें कह सुनाया। फिर उन्होंने प्रार्थना की—'मैं अधम हूँ। मेरा उद्धार करें। आसन्नमरणको क्या करना चाहिये ? मनुष्यमात्रका कर्तव्य क्या है ? उसे किसका श्रवण, जप, स्मरण और भजन करना चाहिये ?'

गुरुदेव शुकदेवजीका हृदय पिघल गया। शिष्य सुयोग्य है। अधिकारी शिष्य मिलनेपर गुरुका मन कहता है कि उसे अपना सर्वस्व दे दूँ। गुरु ब्रह्मनिष्ठ हो और निष्काम भी हो तथा शिष्य प्रभुदर्शनके लिये आतुर हो तो सात दिवस तो क्या सात मिनटमें प्रभुदर्शन हो सकते हैं। गुरु लोभी हो और शिष्य लौकिक सुखकी इच्छा करता हो तो दोनों नरकवासी होते हैं—'लोभी गुरु और लालची चेला, दोनोंका नरकमें ठेलमठेला।'

शुकदेवजी कहते हैं—'राजन्! तू घबराता क्यों है ? अभी सात दिन शेष हैं। मैं तेरे पाससे कुछ लेने नहीं, देने आया हूँ। मैं निरपेक्ष हूँ। मुझे जो आनन्द मिला है और परमात्माके जो दर्शन हुए हैं, वही दर्शन तुझे कराने आया हूँ। मुझे जो मिला है वह तुझे देने आया हूँ। मेरे पिताजी भूख लगनेपर दिनमें एक बार बेर खाते थे, किंतु इस श्रीकृष्णकथामें भजनानन्द इतना मिलता है कि मुझे तो बेर भी याद नहीं आते। मेरे पिताजी वस्त्र पहनते थे। प्रभुचिन्तनमें मेरा वस्त्र कब और कहाँ छूट गया, इसकी भी मुझे स्मृति नहीं है। सात दिनमें तुझे श्रीकृष्णदर्शन कराऊँगा। मैं बादरायणि हूँ। श्रीकृष्ण-आनन्दमें मस्त होनेके बाद बेर खाना भी कहाँ रहा।'

शुकदेवजीका सम्पूर्ण वर्णन वैराग्य शब्दसे व्यक्त हो सकता है। बादरायणिके स्थानपर शुक शब्दका प्रयोग चल सकता था क्या ? भागवतमें एक भी शब्दका प्रयोग निरर्थक नहीं है। शुकदेवजीके वैराग्यको दिखलानेके लिये ही इसका प्रयोग किया गया। शुकदेवजी बादरायण-व्यासजीके पुत्र हैं। व्यासजीका तप और वैराग्य कैसा था ? व्यासजी सारा दिन जप-तप किया करते थे और भूख लगनेपर सारे दिनमें केवल एक बार बेर खाते थे। केवल बेरका ही आहार करते थे, अतः वे बादरायण कहलाये। वैसे बादरायणके शुकदेवजी पुत्र हैं। जिसमें खूब ज्ञान-वैराग्य हो, वह दूसरेको सुधार सकता है। शुकदेवजीमें वे दोनों पूर्णतः थे। आजके सुधारकमें त्याग और संयम दिखायी ही नहीं देता। वह दूसरोंको क्या सुधारेगा। मनुष्य पहले अपने-आपको ही सुधारनेका प्रयत्न करे।

शुकदेवजीने आगे कहा—राजन्! जो समय बीत गया, उसका स्मरण मत करो। भविष्यका विचार भी मत करो। केवल वर्तमानको सुधारो। सात दिन शेष रहे हैं, अतः नारायणका स्मरण करो, तुम्हारा जीवन अवश्य उजागर होगा।

लौकिक रसके भोगीको प्रेमरस नहीं मिलता, भक्तिरस भी नहीं मिलता। जिसने कामका त्याग किया है वही रसिक है, जगत्का रस कटु है, प्रेमरस ही मधुर है। भागवतका वक्ता शुकदेवजी-सा ही होना चाहिये।

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[वास्तविक बड़प्पन]

उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुको लेकर आप अपनेमें बड़प्पन अथवा नीचपनका अनुभव करते हैं—यह बहुत बड़ी भूल है। जैसे कोई धनको लेकर अपनेको बड़ा मानता है, कोई मकानको लेकर अपनेको बड़ा मानता है, कोई बढ़िया कपड़े पहनकर अपनेको बड़ा मानता है, कोई ऊँचा पद प्राप्त करके अपनेको बड़ा मानता है और कोई इन चीजोंके न मिलनेसे अपनेको छोटा मानता है। यह बहुत बड़ी भूल है। आप स्वयं परमात्माके अंश, चेतन हैं और जड़ चीजोंको लेकर आप अपनेको बड़ा-छोटा मानते हैं—यह आपकी तुच्छता है। जड़ चीजोंको लेकर अपनेको बड़ा मानना भी तुच्छता है और छोटा मानना भी तुच्छता है। आप तो इन चीजोंका उपार्जन करनेवाले हैं, इनका उपयोग करनेवाले हैं, इनके आदि और अन्तको जाननेवाले हैं, फिर आप इनके गुलाम क्यों हो जाते हैं? धन मिलता है और बिछुड़ जाता है—इस प्रकार जिसके आदि और अन्तको आप जानते हैं, उसके मिलनेसे अपनेको बड़ा या छोटा मानना कितनी गलती है। थोड़ा विचार करें तो यह बात अक्लमें आ जाती है कि अगर पद मिलनेसे हम बड़े हुए तो वास्तवमें हम छोटे ही रहे, पद बड़ा हुआ। रुपये मिलनेसे हम बड़े हुए तो बड़े रुपये ही हुए, हम बड़े नहीं हुए। अतः इस बातको आप आज ही और अभी मान लें कि अब हम आने-जानेवाली वस्तुओंको लेकर अपनेको बड़ा और छोटा नहीं मानेंगे।

स्वयं आप बहुत बड़े हैं। साधारण रीतिसे तो आप भगवान्‌के अंश हैं और भगवान्‌की भक्तिमें लग जायँ तो भगवान्‌के मुकुटमणि हैं। भगवान् कहते हैं—

मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि।

जिसे भगवान् अपना मुकुटमणि कहते हैं, वही आप हैं। भक्त कब बनता है? जड़ताकी दासता छूटी और भक्त बना! इसलिये आप कभी-कभी यह बात धारण कर लें कि अब हम उत्पत्ति-विनाशवाली तुच्छ चीजोंको लेकर अपनेको बड़ा और छोटा नहीं मानेंगे। आप इन चीजोंका उपार्जन करें, इनका उपयोग करें, इन्हें काममें लायें; पर इनके द्वारा अपनेको बड़ा-छोटा मत मानें। इन चीजोंको लेकर अपनेमें फूँक भर जाती है न, यह गलती होती है। अब बताइये, इसे माननेमें कोई कठिनता है क्या? कठिनता नहीं है तो अभी-अभी, इसी क्षण मान लें। इसमें देरीका काम नहीं है। कोई तैयारी करनी पड़े, कोई विद्वत्ता लानी पड़े, कोई बल लाना पड़े, कोई योग्यता लानी पड़े—इसकी बिलकुल जरूरत नहीं है। अभी इसी क्षण स्वीकार कर लें कि जड़ चीजोंसे हम अपनेको बड़ा नहीं मानेंगे। जड़ चीजोंको लेकर अपनेको बड़ा मानना महान् पराधीनता है। पराधीन व्यक्तिको स्वप्नमें भी सुख नहीं मिलता—*'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं'* (मानस, बाल० १०२।३)। हम तो भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं—ऐसा मान लेंगे तो आप वास्तवमें बड़े हो जायँगे।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस, उत्तर० ११७।१)

सहजसुखराशि होते हुए भी स्वयं दुःखी कब होता है? जब यह नाशवान्‌की पराधीनता स्वीकार कर लेता है, तब यह दुःखी हो जाता है, नहीं तो यह दुःखी हो नहीं सकता। आप दुःखको तो चाहते नहीं, पर दुःखकी सामग्री बटोरते हैं। दुःखी होना चाहते नहीं, पर नाशवान् चीजोंकी पराधीनता स्वीकार करते हैं। पराधीनतामें सुख है ही नहीं, स्वप्नमें भी नहीं है।

श्रोता—जिसमें गुण होते हैं, उसके पास आदमी ज्यादा जाते हैं।

स्वामीजी—गुण होनेसे उसके पास ज्यादा आदमी जाते हैं, तो गुण कौन-सा उसका स्वरूप है? गुण भी उसने लिया है। गुण नहीं रहेगा तो लोग उसके पास नहीं जायँगे। आप विचार करें कि दूसरोंके जानेसे वह बड़ा कैसे हो गया? अगर लोगोंके जानेसे वह बड़ा हुआ, तो उसका

बड़प्पन पराधीन ही तो हुआ। लोग जायँ तो बड़ा हो गया और लोग न जायँ तो छोटा हो गया—यह तो पराधीनता हुई, बड़प्पन कैसे हुआ ?

हम किसी गुणके कारण अपनेको बड़ा मानते हैं, विद्याके कारण अपनेको बड़ा मानते हैं, पदके कारण अपनेको बड़ा मानते हैं, लोगोंके द्वारा आदर-सत्कार होनेपर अपनेको बड़ा मानते हैं तो यह सब-की-सब पराधीनता है। कोई आये चाहे न आये, गुण हो चाहे न हो, लोग अच्छा मानें चाहे बुरा मानें, उनसे हमें क्या मतलब है ? हम तो जैसे हैं, वैसे ही रहेंगे। आप हमें बड़ा मान लें तो क्या हम बड़े हो जायँगे ? आप छोटा मान लें तो क्या हम छोटे हो जायँगे ? जो दूसरोंके द्वारा अपनेको बड़ा या छोटा मानता है, वह कभी बड़ा हो सकता है क्या ? स्वप्नमें भी नहीं हो सकता। जो दूसरी वस्तुओंके अधीन अपना बड़प्पन मानता है, वह सुखी कैसे हो सकता है ? उसने तो महान् गुलामी पकड़ ली। रुपये इकट्ठे कर लिये, कागज इकट्ठे कर लिये, हीरे-पन्ने इकट्ठे कर लिये, पत्थरोंके टुकड़े इकट्ठे कर लिये और मान लिया कि हम बड़े हो गये। तुम बड़े कैसे हो गये ? आपके पास धन आ गया है तो उसका सदुपयोग करें, उसे अच्छे-से-अच्छे काममें लगायें। उसके आनेसे आप बड़े हो गये तो आपकी तो बेइज्जती ही हुई।

भगवान् आने-जानेवाले नहीं हैं, वे रहनेवाले हैं। उन्हें आप अपना मानेंगे तो आप असली बड़े हो जायँगे, आपमें बड़प्पनका अभिमान नहीं आयेगा और छोटेपनका भय नहीं रहेगा कि कोई हमें छोटा न मान ले। आपको कोई छोटा मान ले तो क्या हानि हो जायगी ? आप जिसके हैं और जो आपका है, उस परमात्माके साथ आप अपना सम्बन्ध ठीक स्वीकार कर लें तो आप वास्तवमें बड़े हो जायँगे। फिर आपमें बड़े-छोटे होनेका अभिमान और दीनता नहीं रहेगी, परंतु दूसरी वस्तुओंके द्वारा अपनेको बड़ा-छोटा मानेंगे तो अभिमान और दीनता कभी जायगी नहीं।

आने-जानेवाली चीजोंके द्वारा अपनेको बड़ा-छोटा मानना ही तो बन्धन है। बन्धन कोई जानवर थोड़े ही होता है। यह बन्धन छूटा और मुक्त हुए। दूसरोंके द्वारा हम अपनेको बड़ा-छोटा स्वीकार न करें तो हम मुक्त हो गये कि नहीं ? स्वाधीन हो गये कि नहीं ? बताइये।

श्रोता—ठीक बात है महाराजजी !

स्वामीजी—ठीक बात है तो फिर पराधीन क्यों रहे? आप कृपा करें, अभीसे यह मान लें कि हम पदके द्वारा अपनेको बड़ा नहीं मानेंगे, धनके द्वारा अपनेको बड़ा नहीं मानेंगे। लोग हमारा आदर करें तो अपनेको बड़ा नहीं मानेंगे। लोग हमारा निरादर कर दें तो अपनेको छोटा नहीं मानेंगे। हमें परवाह नहीं कि लोग हमें अच्छा मानें। यह बात आप मान सकते हैं कि नहीं ?

श्रोता—हाँ, मान सकते हैं।

स्वामीजी—तो फिर देरी क्यों करते हैं ? किसकी प्रतीक्षा करते हैं आप ? किसी परिस्थितिकी प्रतीक्षा करते हैं, किसी बलकी प्रतीक्षा करते हैं, किसी समयकी प्रतीक्षा करते हैं, किसी सहारेकी प्रतीक्षा करते हैं, किसी उपदेशकी प्रतीक्षा करते हैं, किसकी प्रतीक्षा करते हैं, बताइये ? मेरी तो प्रार्थना है कि आप अभी-अभी मान लें कि अब हम इन आने-जानेवाली तुच्छ चीजोंके द्वारा अपनेको बड़ा-छोटा नहीं मानेंगे। भगवान्ने कहा है—

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

(गीता २। १४)

अर्थात् जो आने-जानेवाले हैं, अनित्य हैं, उन्हें सह लें। सहनेका अर्थ है उनके आने-जानेका असर अपनेपर न पड़े। उनका असर अपनेपर न पड़े तो इतनी शान्ति, इतना आनन्द होगा, जिसका कोई पारावार नहीं है। आप करके देखें। सच्ची बात है, मैं धोखा नहीं देता हूँ। ऐसी मस्ती आयेगी, जैसे कोई कीचड़मेंसे बाहर निकल आया हो।

श्रीकृष्णानुरागी भक्त केवलरामजी

(श्रीहरिकृष्णजी दुजारी)

भक्त केवलरामजी सिंध प्रदेशके रहनेवाले थे। सिंधु नदीके तटपर रहकर आप श्रीकृष्ण-भजनमें तल्लीन रहते थे। आपकी जिह्वा निरन्तर नाम-जपमें लगी रहती थी। पतित—भगवद्विमुख प्राणियोंको आप सदाचारकी ओर प्रेरित करते थे, उन्हें श्रीकृष्ण-भक्तिमें लवलीन करते थे। प्रायः संसारके लोग भक्तिके नामसे भी भटक जाते थे, भक्तिके नामपर संसारके विषयोंमें रस लेने लगते थे—ऐसे प्राणियोंको केवलरामजी सही मार्ग दिखाकर पवित्र करते थे। सांसारिक प्रलोभन एवं मायासे ये सदा दूर रहते थे। संसारके दुःखी, संतप्त प्राणियोंके लिये इनके हृदयमें दया भरी थी। ये विनम्रताकी मूर्ति थे।

केवलरामजी द्वार-द्वारपर जाकर भिक्षा माँगते थे। जब लोग भिक्षा देने द्वारपर आते तो वे उनसे प्रार्थना करते कि 'मुझे संसारकी किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है। मुझे तो आपलोग भिक्षामें 'नाम-जप' दें।' वे उन्हें नाम-जपके लिये नियम दिलाते, उनसे श्रीकृष्ण-सेवाके लिये अनुरोध करते, लोगोंको तुलसीकी कण्ठी धारण करने एवं शालग्रामजीकी नित्य पूजा करनेकी प्रेरणा देते; परंतु उन लोगोंसे उनके आग्रह करनेपर भी किसी प्रकारकी धनसामग्री या अन्य वस्तु नहीं ग्रहण करते थे। लोगोंमें श्रीकृष्णानुराग, नामनिष्ठा, श्रद्धा देखकर इन्हें अपार सुख मिलता था। वही इनकी निधि थी, जो वे दूसरोंमें वितरण करना चाहते थे।

एक बार केवलरामजी भिक्षा माँगते-माँगते एक धनिकके द्वारपर पहुँच गये। उन्होंने उससे भी श्रीकृष्ण-नामकी भीख माँगी। उस धनिकने उनके संत-स्वरूपको पहचाना नहीं। उसने सोचा कि मेरा वैभव देखकर इनके मनमें धन पानेकी लालसा जगी होगी। वह उन्हें एक आसनपर बैठाकर घरके अंदर गया और एक थैलीमें एक हजार चाँदीके सिक्के ले आया तथा केवलरामजीको देने लगा। उन्होंने उस थैलीको छुआतक नहीं; अपितु धनिकसे प्रार्थना की कि 'भैय्या ! मैं तो तुमसे बड़ी सम्पत्ति लेने आया हूँ। तुम श्रीकृष्ण-नाम जपो और श्रीकृष्ण-सेवा करो। तुम्हारे ऐसा करनेसे मुझे बहुत कुछ मिल जायगा।' वह धनिक कल्पना ही नहीं कर सकता था कि मेरी थैली ठुकरा दी जायगी। वह देखता ही रह गया। वह उनके वैराग्य एवं भक्तिसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। उसने उनके कहनेसे श्रीकृष्ण-सेवा एवं श्रीकृष्ण-नाम-जप ग्रहण किया, तभी उन्हें संतोष हुआ।

एक बार कुछ दम्भी वैष्णवोंसे केवलरामजीका मिलन हुआ। वे लोग ऊपरसे तो वैष्णवोंका वेष बनाये हुए थे; परंतु थे पूरे अनाचारी एवं दुष्ट। वे लोग अपने ऊपरी वैष्णव-वेषसे दूसरे लोगोंको ठगते थे और अपने स्वार्थोंकी पूर्ति करते थे। केवलरामजीको उन्हें पहचानते देर नहीं लगी। उनका हृदय दयासे आर्द्र हो गया। उन्होंने उन लोगोंको बड़ी विनम्रतासे भगवान्‌की महत्ताके विषयमें समझाया, उनके हृदयमें भगवान्‌के प्रेमके बीज अंकुरित किये तथा उन सबका हृदय-परिवर्तन कर सच्ची वैष्णवताका दान दिया। यही संतका सहज स्वभाव होता है। श्रीचैतन्य महाप्रभुने भी इसी तरह दुष्टोंका उद्धार किया था।

परतापच्छिदो ये तु चन्दना इव चन्दनाः।
परोपकृतये ये तु पीड्यन्ते कृतिनो हि ते॥
संतस्त एव ये लोके परदुःखविदारणाः।
आर्तानामार्तिनाशार्थं प्राणा येषां तृणोपमाः॥
तैरियं धार्यते भूमिर्नरैः परहितोद्यतैः।

(पद्मपुराण, पाताल॰ ९७। ३२—३४)

'जो चन्दन-वृक्षकी भाँति दूसरोंके ताप दूर करके उन्हें आह्लादित करते हैं तथा जो परोपकारके लिये स्वयं कष्ट उठाते हैं, वे ही पुण्यात्मा हैं। संसारमें वे ही संत हैं, जो दूसरोंके दुःखोंका नाश करते हैं तथा पीड़ित जीवोंकी पीड़ाको दूर करनेके लिये जिन्होंने अपने प्राणोंको तिनकेके समान निछावर कर दिया है। जो मनुष्य सदा दूसरोंकी भलाईके लिये उद्यत रहते हैं, उन्होंने ही इस पृथ्वीको धारण कर रखा है।'

एक बार कुछ किसान व्यापारी अपनी-अपनी बैलगाड़ियोंपर सामान लादकर उसे बेचने ले जा रहे थे। सभी बैलगाड़ियोंपर इतना अधिक भार लदा था कि बैल उसे बड़ी कठिनाईसे खींच पा रहे थे। केवलरामजी भी उसी मार्गसे जा रहे थे। बैलोंकी पीड़ासे उन्हें अत्यधिक कष्ट हो रहा था। उन्होंने व्यापारियोंसे प्रार्थना की कि 'इतना अधिक भार गाड़ियोंपर न लादा जाय। कुछ भार उतार लिया जाय, जिससे बैल सरलतासे खींच सकें।' व्यापारियोंने उनकी बातपर कोई ध्यान नहीं दिया। गर्मी एवं थकावटके कारण गाड़ियाँ धीरे-धीरे बढ़ रही थीं। बैलोंका कष्ट देखा नहीं जा रहा था। केवलरामजी 'कृष्ण-कृष्ण' नाम जपते बैलगाड़ीके साथ-साथ चल रहे थे। वे बैलोंके कष्टसे अत्यधिक दुःखी थे। उनमेंसे एक बैल बहुत कमजोर था। वह कष्टसे बहुत धीरे-धीरे चल रहा था। उस गाड़ीपर चढ़े व्यापारीने उस बैलको निर्दयतासे डंडा मारा। केवलरामजीने उस बैलपर पड़े डंडेकी चोटको अपने ऊपर ले ली। वे धरतीपर गिर पड़े और कराहने लगे—'हा कृष्ण! हा कृष्ण! मार दिया। उन्हें भूमिपर गिरते देखकर सभी व्यापारी अपनी-अपनी गाड़ियाँ रोककर उनके पास इकट्ठे हो गये। जिस व्यापारीने उस बैलको मारा था, उसने कहा कि 'मैंने तो इन्हें नहीं मारा था, बैलको मारा था।' केवलरामजीने कहा कि 'यह बात सत्य है, परंतु बैलका कष्ट मुझसे देखा नहीं जा रहा था। उसके ऊपर इतना अधिक भार लदा था और ऊपरसे उसे डंडेसे मारा जा रहा था। अतः मैंने अपने संकल्पसे बैलकी चोटको अपने ऊपर ले ली।' केवलरामजीके शरीरपर डंडेकी चोटके चिह्न प्रत्यक्षरूपसे उभर आये थे। शरीरसे खून गिरने लगा था।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६।३२)

जैसे अपने मस्तक, हाथ, पैर एवं गुदादिके साथ अलग-अलग बर्ताव करते हुए भी उनमें आत्मभाव अर्थात् अपनापन ही मानते हैं, वैसे ही संतजन—योगीजन सब भूतोंमें सुख और दुःख, आनन्द और कष्टको समान ही अनुभव करते हैं। सब भूतोंमें संतजनोंका आत्मभाव इतना दृढ़ रहता है कि वे चाहें तो दूसरे प्राणीका दुःख अपने ऊपर ले लेते हैं।

संतप्रवर श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने भी अपने एक मित्रका कष्ट इसी तरह अपने ऊपर ले लिया था। ऐसी अनेक घटनाएँ संतोंके जीवनमें देखनेमें आयी हैं। केवलरामजीने भी बैलपर डंडेकी चोटको अपने शरीरपर ले ली। उनका दयाभाव देखकर सभी व्यापारियोंका हृदय पिघल गया। उन सबने संतके चरणोंपर सिर रखकर क्षमा माँगी और आगेसे कभी भी बैलोंपर अधिक भार न लादनेकी प्रतिज्ञा की। साथ-ही-साथ वे सभी श्रीकृष्ण-भक्त बन गये और श्रीकृष्ण-नाम-जप करने लगे। चोट लगनेपर भी केवलरामजीको अब प्रसन्नता थी। कष्ट सहकर उन्होंने व्यापारियोंका हृदय-परिवर्तन कर दिया, उन्हें श्रीकृष्ण-भक्ति-रसायन प्रदान किया। संतजन-भक्तजन स्वयं कष्ट ग्रहण कर दूसरोंको भव-बन्धनसे मुक्त करते हैं।

भजन और भक्तिके प्रभावसे केवलरामजी परम तत्त्वके ज्ञाता थे। इतनेपर भी वे किसी प्रकार भी सिद्धियोंकी प्राप्तिके फेरमें नहीं पड़े थे। उनका धन तो 'श्रीकृष्ण-प्रेम' एवं 'नाम-जप' ही था।

कर्म-फल

'पुण्यकर्मवाले जीव तुरंत ही रमणीययोनि—ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं और जो पापकर्मवाले हैं, वे तुरंत ही पापयोनि—कुत्तेकी योनि, सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनिको प्राप्त करते हैं।'

(छा० ५।१०।७)

महर्षि पुलस्त्यकी सार्वजनीन शिक्षा

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

[गताङ्क पृ० ५३६ से आगे]

अन्य योनियोंके लिये भी पातिव्रत्यकी शिक्षा

श्रुति और स्मृतिद्वारा विहित धर्मके अधिकारी मनुष्य माने जाते हैं; किंतु पातिव्रत्य-धर्म अन्य योनियोंमें भी आचरणीय होता है। ब्रह्मपुराणमें पक्षी-जातिकी दो पतिव्रताओंकी कथा इस प्रकार आती है—

गोदावरी (गौतमी गङ्गा) के उत्तरी तटपर एक कपोत रहता था। उसका नाम अनुह्लाद था। उसकी भार्याका नाम हेति था। वह पतिव्रता थी। कुछ वर्षोंमें उसका परिवार बहुत बढ़ गया। वह पुत्र-पौत्रोंसे घिरा रहता था। गोदावरीके दक्षिण तटपर एक उलूक रहता था। उसका परिवार भी पुत्र-पौत्रोंसे भरा हुआ था। उन दोनोंमें बहुत दिनोंसे शत्रुता चली आ रही थी, जिसके कारण उन दोनोंमें कई बार संघर्ष हो चुका था। अपने पुत्र-पौत्रोंके साथ उलूक भी लड़ता था और अनुह्लाद भी, किंतु किसी युद्धमें किसीकी हार-जीत नहीं हुई। अनुह्लादने अपनी विजयके लिये यमराजकी आराधना कर याम्य अस्त्र प्राप्त कर लिया था। उधर उलूकने भी अग्निकी आराधना कर आग्नेय अस्त्र प्राप्त किया था। इसके बाद अपनेको बलवान् समझकर दोनोंने पुनः युद्ध आरम्भ किया। वह युद्ध अत्यन्त भीषण था। उलूकने कपोतके ऊपर आग्नेय अस्त्रका प्रहार किया। यह देखकर अनुह्लादने यमपाश और यमदण्डका प्रयोग किया, किंतु आग्नेयास्त्रसे वह घिर गया। कबूतरके चारों ओर अग्निकी लपटें निकल रही थीं। कपोतकी पतिव्रता स्त्री हेति अपने पतिको अग्निकी लपटोंमें घिरा देखकर व्याकुल हो गयी। उसके सभी पुत्र भी अग्निकी लपटोंसे घिर गये थे, इससे उसकी विह्वलता और बढ़ गयी। उसने झट अग्निदेवकी स्तुति * प्रारम्भ कर दी। उसके पातिव्रत्यके बलसे अग्निदेवको प्रकट होना पड़ा। उन्होंने कहा—'तुम पतिव्रता हो—यह मैं जानता हूँ, किंतु मेरा अस्त्र अमोघ है। तुम्हारे पातिव्रत्य-धर्मके कारण मैं तुम्हारे पति और बच्चोंको बचा देता हूँ, किंतु अस्त्र किसपर छोड़ूँ ? इसका लक्ष्य बताओ।' पतिव्रताने कहा—'अग्निदेव ! आपका अस्त्र मुझे ही अपना लक्ष्य बना ले और मेरे पति एवं पुत्रोंको छोड़ दे। मैं आपकी शरण हूँ। आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।' अग्निदेवताने कहा—'तुम्हारी पति-भक्ति और इस सुन्दर वचनसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ। तुम्हारे पति और पुत्रोंका कोई अनिष्ट नहीं होगा तथा यह तुम्हें भी नहीं जलायेगा। तुम सुखपूर्वक घर लौट जाओ।'

उलूकी भी पतिव्रता थी। उसने जब देखा कि उसका पति यमके पाशमें जकड़ गया है और यमदण्डसे पीटा जा रहा है, तब वह बहुत व्यथित हुई। उसके सब पुत्र भी यमपाशसे जकड़े हुए डंडेसे पीटे जा रहे थे। उसने झट यमराजकी शरण ग्रहण की और आर्त स्वरमें उनकी स्तुति † की। उलूकीके पातिव्रत्य-धर्मके प्रभावसे यमराजको वहाँ प्रकट होना पड़ा। उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे उलूकीसे कहा—'तुम्हारा कल्याण हो। तुम वर माँगो।'

---

* रूपं न दानं न परोक्षमस्ति यस्यात्मभूतं च पदार्थजातम्। अश्नन्ति हव्यानि च येन देवाः स्वाहापतिं यज्ञभुजं नमस्ते ॥
होतारं चापि देवानां देवानां दूतमेव च। तं देवं शरणं यामि ह्यादिदेवं विभावसुम् ॥
अन्तःस्थितः प्राणरूपो बहिश्चान्नप्रदो हि यः। यो यज्ञसाधनं यामि शरणं तं धनंजयम् ॥
(ब्रह्मपुराण, यमतीर्थवर्णनम् १२५। १५-१७)

† त्वद्भीता अनुद्रवन्ते जनास्त्वद्भीता ब्रह्मचर्यं चरन्ति। त्वद्भीताः साधु चरन्ति धीरास्त्वद्भीताः कर्मनिष्ठा भवन्ति ॥
त्वद्भीता अनाशकमाचरन्ति ग्रामादरण्यमभि यच्चरन्ति। त्वद्भीताः सौम्यतामाश्रयन्ते त्वद्भीताः सोमपानं भजन्ते ॥
त्वद्भीताश्चान्नगोदाननिष्ठास्त्वद्भीता ब्रह्मवादं वदन्ति ॥
(ब्रह्मपुराण, यमतीर्थवर्णनम् १२५। २३-२४)

उलूकीने कहा—'मेरे पतिदेव एवं पुत्र आपके पाशमें बँधे हैं और आपके ही डंडेसे पीटे जा रहे हैं। आप उनकी रक्षा करें।' यमराजने कहा—'पतिव्रते! मेरा अस्त्र अमोघ है। तुम्हारे पति और पुत्रोंको तो छोड़ देता हूँ, किंतु इसका लक्ष्य बताओ।' पतिव्रता उलूकीने कहा—'जगदीश्वर! आपका पाश मुझे बाँध ले और आपके दण्ड मुझपर ही पड़ें।' यमराजने कहा—'पतिव्रते! मैं तुम्हारी पतिभक्तिसे बहुत संतुष्ट हूँ, अतः तुम्हारे पति और पुत्रोंको छोड़ ही देता हूँ, तुम्हें भी मुक्त कर देता हूँ; क्योंकि पतिव्रतापर मेरे अस्त्र नहीं चलते।'

इस तरह यमराजने अपने पाशको समेट लिया और उधर अग्निदेवताने अपने आग्नेयास्त्रका संवरण कर लिया। दोनों पतिव्रताओंसे प्रभावित होकर दोनों देवताओंने कपोतराज और उलूकराजको अपनी पत्नियोंके साथ अपने पास बुलाया और उनमें परस्पर प्रेम करा दिया। दोनों देवताओंने दोनों पक्षियोंसे कहा—'तुमलोग वर माँगो।' दोनों पक्षियोंका हृदय देवदर्शनसे उदार हो चुका था, अतः दोनोंने कहा—'हम पापयोनि पक्षी हैं। हम वरदान लेकर क्या करेंगे? हम यही चाहते हैं कि लोगोंका उपकार हो। इसके लिये गोदावरीके दोनों तटोंपर हम दोनोंके जो निवास-स्थान हैं, उन्हें आप तीर्थ बना दीजिये। यहाँ कोई पापी या पुण्यात्मा जो कुछ स्नान, दान, पितरोंका पूजन आदि करे, वह सब अक्षय पुण्य देनेवाला हो जाय।'

यमराजने कहा—'पतिव्रता उलूकीने जिस स्तोत्रसे मेरी स्तुति की है, उसका जो गौतमीके उत्तरी तटपर पाठ करेगा, उसके वंशमें सात पीढ़ियोंतक अकाल-मृत्यु नहीं होगी और यदि कोई प्रतिदिन इस स्तोत्रका पाठ करेगा तो वह अठासी हजार व्याधियोंसे पीड़ित नहीं होगा।'

अग्निदेवने कहा—'पतिव्रता कपोतीने जिस स्तोत्रसे मेरी स्तुति की है, वह स्तोत्र भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जो लोग गोदावरीके दक्षिण तटपर इसका पाठ करेंगे, उन्हें आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य तथा लक्ष्मीकी प्राप्ति होगी। जो कोई प्रतिदिन इस स्तोत्रका पाठ करेगा अथवा लिखकर घरमें रख लेगा, उसके घरमें अग्निका भय नहीं होगा।'

पातिव्रत-धर्मकी परीक्षा

सती सुभद्राके माता-पिता जैन-धर्मावलम्बी थे। पिताका नाम जिनदास और माताका नाम तत्त्वमालिनी था। जिनदास बसन्तपुरके राजाके अमात्य थे। उनके पुत्र सुयोग्य थे। सुभद्रा उनकी सुयोग्य पुत्री थी। बचपनसे ही सुभद्रामें सभी सद्गुण आ गये थे। दूसरेकी सेवा और भलाईमें वह सदा संलग्न रहती थी। मन, वचन और कर्मसे किसीको कोई कष्ट न हो जाय, इसका वह पूरा ध्यान रखती थी। वह आन्तरिक एवं बाह्य गुणोंमें भी अनुपम थी। उसकी पवित्र सुन्दरता जो देखता वह निहारता ही रह जाता। उन दिनों चम्पा नगरीमें बुद्धदास नामक एक युवक भी सभी सद्गुणोंका आकर था। वह सुभद्राके आन्तरिक एवं बाह्य गुणोंपर मुग्ध हो गया। उसकी इच्छा थी कि उस अमात्यकुमारीके साथ उसका विवाह हो जाय। इसके लिये उसने अपना प्रस्ताव उसके पिताके पास भेजा। बुद्धदास सुभद्राके अनुरूप वर था, किंतु सुभद्राके माता-पिता उसका विवाह किसी जैन युवकसे ही करना चाहते थे और बुद्धदास बौद्ध था। इसी एक कमीके कारण उन्होंने इसके विवाहके प्रस्तावको वापस कर दिया। बुद्धदास सुभद्राके गुणोंके प्रति इतना आकृष्ट हो गया था कि उसने बौद्ध-धर्मको छोड़कर जैनधर्मको स्वीकार कर लिया। तब सुभद्राके पिताने प्रसन्नताके साथ सुभद्राका हाथ इसके हाथमें दे दिया। सुभद्रामें पातिव्रत्यका गुण भी अपनी पूरी उत्तमताके साथ आ गया। दोनोंका जीवन सुखमय बीत रहा था, किंतु घरका वातावरण इन दोनोंके प्रतिकूल था; क्योंकि सुभद्राके ससुरालका पूरा परिवार बौद्ध था। उसकी सास चाहती थी कि सुभद्रा भी अपनी पूजा बौद्धधर्मके अनुकूल करे। उसने सुभद्राको मुँह खोलकर समझाया भी कि तुम बौद्ध बन जाओ, किंतु सुभद्रा अपने जन्मजात संस्कारको छोड़ना नहीं चाहती थी। फलतः सास रुष्ट रहने लगी। वह अपने पुत्रको समझाती कि जब यह अपना धर्म नहीं बदलती तो तुमने क्यों अपना धर्म बदल दिया? किंतु बुद्धदास उदार था। वह परिवारमें समन्वय बनाये रखता था। माता

बुद्धदासको सुभद्राके चरित्रके सम्बन्धमें झूठ-झूठ गढ़कर सुनाती थी, किंतु पतिको पत्नीके चरित्रपर पूरा विश्वास था।

एक दिन एक ऐसी घटना घटी कि सुभद्राने एक जैन साधुका आतिथ्य किया। संयोगवश साधुकी आँखमें एक तिनका पड़ गया, जो कसकने लगा। साधु उसे निकाल नहीं पा रहा था। आँख लाल हो गयी थी और आँसू गिरने लगे। परदुःखकातरता तो सुभद्रामें थी ही। उसने झट साधुके पास जाकर उसकी आँख खोलकर तिनका निकाल दिया। सासकी दृष्टि तो सदा बहूपर लगी रहती थी। उसने झट अपने लड़केको बुलाकर यह दृश्य दिखला दिया और दृश्यकी भद्दी व्याख्या लड़केके दिमागमें उतार दी। उस बेचारेको संदेह हो गया। बुद्धदास अपनी पत्नीसे अप्रसन्न हो गया और उससे मिलना-जुलना तथा बोलना बंद कर दिया। सुभद्राको अपने पतिका बदला हुआ बर्ताव अखरने लगा। वह पतिप्राणा थी। पतिकी अप्रसन्नताका कारण अपनेको मानकर वह दुःखी रहने लगी। वह पतिसे मिलकर पूछना चाहती थी कि वे क्यों उससे अप्रसन्न हैं, किंतु पति मिलनेसे कतराता रहता था। सुभद्राकी आँखोंसे दिन-रात आँसू झरते रहते थे। वह देवी-देवताओंको मनाने लगी।

इसी बीच नगरमें एक घटना घटी। राजाके प्रहरी प्रातःकाल जब फाटक खोलने गये तो वह खुलता न था। अन्य लोगोंने भी खोलनेका प्रयत्न किया, किंतु फाटक टस-से-मस न हुआ। कुछ पहुँचे हुए संतोंने बतलाया कि किसी सच्ची पतिव्रताका हाथ लग जाय तो यह फाटक खुल सकता है। राजाने ढिंढोरा पिटवाया कि जिस सतीके हाथसे दरवाजा खुलेगा उसे मुँहमाँगा पुरस्कार दिया जायगा। कुछ नारियाँ आयीं, किंतु उनके छूनेसे फाटकपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सुभद्राने अपने सतीत्वकी परीक्षाका अच्छा अवसर देखा। उसने अपने परिवारवालोंसे प्रार्थना की कि मुझे अपने सतीत्वकी परीक्षाका अवसर दिया जाय। पुरस्कारसे कोई मेरा सम्बन्ध नहीं रहेगा। परिवारवालोंने उसे अनुमति दे दी। यह तो दैवी घटना थी। सुभद्राके पातिव्रत्य-धर्मको चमकानेके लिये ही यह घटना घटी थी। पतिव्रताके हाथ लगते ही वह फाटक अपने-आप खुल गया। राजा बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सती सुभद्राका बहुत सम्मान किया। सारी प्रजा जय-जयकार करने लगी। सबसे बड़ी प्रसन्नता बुद्धदासको हुई। वह अपनी पत्नीसे अप्रसन्न तो अवश्य था, किंतु उसके वियोगमें घुल रहा था। न उसे रातमें नींद आती थी और न दिनमें भूख। इस परीक्षासे उसने जीवनका सबसे बड़ा सुख पा लिया था। सासको भी झख मारकर प्रसन्नता प्रकट करनी पड़ी। —(क्रमशः)

अधिकाधिक चमको ! टूटो नहीं

अपनी गति जब उपास्यको सौंप दी है, तो गति-विधि वही सँभालेगा । चिन्ता न करो, वह सब देखकर जो तुम्हारे लिये अप्रत्याशित घट रहा है। भविष्यको समझनेकी चेष्टा उद्विग्नता ही लायेगी।

आस्था तनिक विभ्रमित अस्थिरतासे संस्पर्शित भर होती है, डगमगाती नहीं, उखड़ती नहीं, जमी रहती है। यही शुभ है। व्यर्थ ऊहापोहमें डूबो-उतराओ नहीं।

निश्चय ही अकर्मण्य नहीं बनना है। अनिश्चित भी नहीं रहना है।

उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक निर्णीत करो और चलती हवाकी तेजीमें उखड़े बिना उधर चलो जिधर कर्तव्य इङ्गित करे !

ऐसा करनेमें मन कसके तो कसकने दो ! प्यार मरे, तो मरने दो।

प्रथम बार ऐसा नहीं हो रहा है। कसौटी फिर सामने है। घिसे जानेपर चमको ! अधिकाधिक चमको ! टूटो नहीं !

—बालकृष्ण बलदुवा

भारतीय ज्योतिर्विज्ञान और उसकी शिक्षा

(ज्यो० भू० पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी)

(३)

[गताङ्क पृ० ५६० से आगे]

दीक्षितजी तै०सं० (४।४।१०) और तै०ब्रा० (१।५।१) के नक्षत्र-देवताओंके प्रसङ्गमें **'रोहिणी-नक्षत्रमिन्द्रो देवता'** तथा **'इन्द्रस्य रोहिणी'**का स्वतः अपने 'भारतीय ज्यौतिषशास्त्र'में उल्लेख करते हुए भी इस बातको भूल गये हैं कि सामविधानब्रा०में **'रोहिणी'**की पूर्णिमाका जो वर्णन है, वह **'रौहिणी'** पौर्णमासी इन्द्रदैवत रोहिणी, (ज्येष्ठा) नक्षत्रयुक्त ज्येष्ठी पौर्णमासी है। अतएव फाल्गुनी, चैत्री आदि पौर्णमासियोंको उन्होंने फाल्गुन और चैत्रमासकी पूर्णिमाएँ नहीं, फाल्गुनी और चित्रा नक्षत्रोंसे युक्त पूर्णिमाएँ मान ली हैं और इसी आधारपर भ्रमवश लिख दिया है कि ब्राह्मणकालमें चैत्रादि मासोंका अस्तित्व नहीं था तथा जिन ग्रन्थोंसे जिन भागोंमें चैत्रादि मासोंके नाम हैं, वे ब्राह्मणकालके पीछेके हैं।

सारांश यह है कि चैत्रादि नाक्षत्र मासोंके नाम याजुष और आर्च ज्यौतिषके पूर्वके कालमें भी प्रचलित थे। ये नाम यौगिक नाक्षत्रिक हैं, जो आर्ष सिद्धान्तकी सूक्ष्म गणनाद्वारा ही सिद्ध होते हैं—अन्य किसी गणनाद्वारा नहीं। दीक्षितजीने 'भारतीय ज्यौतिष' (पृ० ४२८) में ५ वर्षके उदाहरणद्वारा देखा है कि चैत्रादि मास यौगिक सिद्ध नहीं होते। इससे यह निश्चय हो जाता है कि जिन चैत्रादि मासोंके नाम नाक्षत्रिक पूर्णिमाओंके आधारपर पाणिनिने सिद्ध किये हैं और जिनकी सूर्यसिद्धान्त (१४।१५) में व्यवस्था है, चैत्रादि गणनासे वे नाम न तो दीक्षितके उदाहृत केरोपन्ती (दृश्य-गणनानुसार) शक १८०४ से १८०७ तक तथा शक १८१० में ठीक उतरते हैं और न वेदाङ्गज्यौतिषके पञ्चाङ्गके अनुसार ही वे चैत्रादि मासोंके नाम किसी दूसरी गणनाद्वारा सिद्ध किये जाते हैं।

चैत्रादि मासोंके नाम तिथि और नक्षत्रोंके आधारपर रखे गये हैं और तिथि एवं नक्षत्र सूर्य तथा चन्द्रमाके द्वारा बनते हैं। अतएव हमें देखना चाहिये कि सौरगणना और चान्द्रगणनाका आरम्भ कबसे होता है। कालगणनामें उत्तरायण, दक्षिणायन और देवयान तथा पितृयानका वर्णन है। वेदाङ्गज्यौतिषकी गणना उत्तरायणसे आरम्भ होती है (याजुष ज्यौ० ५-६) और सिद्धान्तज्यौतिषकी गणना देवयान (उत्तर विषुव) से—चैत्र शुक्ल प्रतिपदासे आरम्भ होती है (ब्रा० स्फुटसिद्धान्त १।४)। सिद्धान्तगणनाके देवयानद्वारा सौर गणना और पितृयानद्वारा चान्द्रगणनाका आरम्भ होता है। सौरगणनाके मेष-वृष आदि मासोंकी गणना मासारम्भके सौरनक्षत्रोंके आधारपर अश्विन्यादिक्रमसे, अमान्तके आधारपर चैत्रशुक्ल प्रतिपदासे अश्विनीके सूर्यसे और सूर्योदयकालसे होती है, किंतु चान्द्रगणना ठीक इसके विपरीत होती है। सौरगणना (देवयान) उत्तर-विषुवसे, शुक्लपक्षको प्रतिपदासे और सूर्योदयकालसे होती है तथा चान्द्रगणना दक्षिण-विषुवसे, कृष्णपक्षसे और सूर्यास्तकाल (चन्द्रोदय) से आरम्भ होती है। सौरमासोंके नाम आरम्भकालकी संक्रान्तिके मेषादि-नामसे होते हैं और चान्द्रगणनाके मासोंके नाम मासकी अन्तिम तिथि पूर्णिमाके चन्द्रनक्षत्रके आधारपर अश्विन्यादि-क्रमसे होते हैं।

निष्कर्ष यह कि चैत्रकृष्ण प्रतिपदासे अमावास्यातक देवयानके कार्यका उपक्रम करते हुए चैत्रशुक्ल प्रतिपदाके सूर्योदयकालसे मेषसंक्रान्ति और अश्विनी-नक्षत्रके आरम्भकालसे मेषराशि नामके सौर मासका आरम्भ और सौरचान्द्र वर्षका आरम्भ होता है और भाद्रशुक्ल १५के सूर्यास्त (चन्द्रोदय) कालसे पितृयानके १६ दिनोंके महालयके उपक्रमके साथ चान्द्रमासका आरम्भ होता है और मासान्त—आश्विन शुक्ल १५ को अश्विनी-नक्षत्रके नामसे ही उसका आश्विन नाम होता है। दोनों ही गणनाएँ अश्विन्यादिक्रमसे नक्षत्रोंकी गणना करती हैं—चान्द्रगणना चन्द्रनक्षत्रके आधारपर अपने मासोंके नाम रखती है और

सौरगणना सौर-संक्रान्तिके आधारपर करती है, जो सूर्यनक्षत्रसे बनती है ।

उपर्युक्त विवरणसे यह निश्चय हो जाता है कि चैत्रादि मासोंके नाम जिस गणनाके द्वारा आदिकालमें रखे गये हैं, वह पितृयान-गणना है और उसका क्रम आश्विनादि है, चैत्रादि नहीं । इसी बातको भगवान् वेदव्यासजीने बृ० धर्मपुराणके पूर्वखण्ड (१५ । ९ । १६) में दिखलाया है और कहा है— **'आश्विनाद्या मता मासाः सौरचान्द्रप्रमाणतः ।'** अब देखना है कि आश्विनादि-गणनाके अनुसार क्या चैत्रादि बारहों मासकी पूर्णिमाएँ अपने-अपने मास-नक्षत्रोंके साथ किसी एक चान्द्रवर्षमें पर्वान्तयोग करती हैं? इसके लिये श्रीसूर्यसिद्धान्तानुसारी स्व० महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदीके पञ्चाङ्ग (वि० सं० १९६४-६५)के अनुसार हमने विचार किया तो सं० १९६४के आश्विन माससे लेकर सं० १९६५के भाद्रपदमासकी बारहों पूर्णिमाएँ अपने-अपने मास-नक्षत्रोंसे पर्वान्तयोग करती हैं । अतएव यह प्रमाणित हो जाता है कि जिन चैत्रादि मासोंके नाम हमारे वैदिक साहित्यसे लेकर अबतक अविच्छिन्न रूपसे श्रौत-स्मार्त-कर्मोंमें व्यवहृत हुए हैं, उनका नामकरण यौगिक है और वे हमारे सूर्यसिद्धान्त-जैसे आर्षसिद्धान्तकी गणनाद्वारा रखे गये हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि हमारी सिद्धान्तगणना तैत्तिरीय-संहिता आदि वैदिक साहित्यके पूर्वसे—अनादि-कालसे प्रचलित है और उस समयसे प्रचलित है जिस समय यूनानी ज्योतिर्गणितका संसारमें अस्तित्व ही नहीं था ।

विराटनगरकी चढ़ाईके समय कृष्णपक्षकी अष्टमीको जब अर्जुनने अपना नाम लेकर कौरवोंको ललकारा था, तब कर्ण और दुर्योधनने कहा था कि 'अभी तो तेरहवाँ वर्ष चल रहा है, अतएव पाण्डवोंका तेरह वर्षका पण पूर्ण नहीं हुआ, अतः प्रतिज्ञानुसार उन्हें पुनः बारह वर्ष वनमें रहना चाहिये' (विराटपर्व ४७ । २—५) । इसपर जब दुर्योधनने भीष्मजीसे समय-निर्णयके लिये व्यवस्था देनेको कहा, तब भीष्मजीने कला-काष्ठादिसे लेकर संवत्सरपर्यन्तके कालचक्रकी बात कहकर व्यवस्था दी कि 'ज्योतिश्चक्रके व्यतिक्रमके कारण वेदाङ्गज्यौतिषकी गणनासे तो १३ वर्ष, ५ महीने और १२ दिन होते हैं, किंतु पाण्डवोंने जो पणकी बातें सुनी थीं, उन्हें यथावत् पूर्ण करके और अपनी प्रतिज्ञाकी पूर्तिको निश्चयपूर्वक जानकर ही अर्जुन आपके समक्ष आया है (महाभारत, वि० प० ५२ । १—५) ।

भीष्मजीने पाँच वर्षोंमें दो चान्द्रमासोंके अधिक मास होनेकी बात वेदाङ्गज्यौतिषके अनुसार कही है। यदि ५ सौर वर्षोंमें २ अधिमास हो जाते हैं तो १३ वर्ष यदि सौरमानके होते तो ५ महीने और ६ दिन १३ वर्षोंसे अधिक होते। अतएव लोग कहते हैं कि जिस गणनाके अनुसार भीष्मजीने व्यवस्था दी है, उस गणनासे एक सौर वर्षमें वेदाङ्गज्यौतिषके समान ३६६ सावन दिन नहीं, ३६६ दिन और ३० घड़ी होना सिद्ध होता है। इसी प्रश्नको लेकर महाभारतमीमांसा । (पृ० ११७—१२०) में वैद्यजीने विदेशोंकी कालगणनाकी दुर्दशाको देखकर—जैसा कि स्व० महामहोपाध्याय ओझाजीने प्राचीन लिपिमालामें पृ० १९४—९५ की सात टिप्पणियोंमें सप्रमाण उद्धृत किया है—भारतीय ज्योतिर्विज्ञानकी निर्विकल्प कालगणनाकी दुरवस्थाका भी अनुमान किया है और ज्योतिर्विज्ञानके मर्मको न जानकर भीष्मजीकी व्यवस्थाको दुर्व्यवस्था कहा है, जो ऐसे लोगोंका भ्रम ही है।

अर्जुन जिस ग्रीष्मऋतुके कृष्णपक्षकी अष्टमीको प्रकट हुए, उसके प्रथम दिन सप्तमीको प्रतिज्ञानुसार १३ वर्ष पूर्ण हो गये थे, जो आजके ही समान व्यावहारिक ज्योतिःसिद्धान्तसे निष्पन्न थे। जिन विद्वानोंने प्रतिज्ञाके १३ वर्ष सौरमानके अथवा चान्द्रमानके माने हैं, उन्हें सिद्धान्त-ज्यौतिषकी कालगणना और भारतकी सनातन कालगणनाका सम्यक् ज्ञान न था। उन्होंने व्यर्थ ही प्रपञ्च किया है। यदि प्रतिज्ञाके १३ वर्ष सौर होते तो अष्टमीके ६ दिन पूर्व ही १३ वर्ष पूरे हो गये होते और कृष्ण-सप्तमीको भीमको युद्धमें प्रकट हो जानेके भयसे अतिमर्त्य कर्म करनेसे धर्मराज न रोकते और यदि प्रतिज्ञाके १३ वर्ष वेदाङ्गज्यौतिषके चान्द्रमानके होते तो अर्जुनके प्रकट होनेके ५ महीने और १२ दिन पूर्व ही प्रतिज्ञा पूरी हो गयी होती और प्रकट होनेके डेढ़ मास पूर्वके उस घोर अत्याचारको जो भरी सभामें द्रौपदीके प्रति कीचकने

किया था, पाण्डव सहन न करते और प्रकट होनेसे केवल १३ दिन पूर्व सुदेष्णाद्वारा विराटराजके संदेशको सुनकर द्रौपदी १३ दिनका समय न माँगती। अतएव यह सिद्ध होता है कि पाण्डवोंकी प्रतिज्ञाके १३ वर्ष राष्ट्रिय कालगणनाके थे, जिसका उल्लेख करनेकी आवश्यकता न थी और वह राष्ट्रिय कालगणना भारतकी सनातन कालगणना है, जिसका व्यवहार हमारे ज्योतिः-सिद्धान्तकी गणनामें—अहर्गणादि बनानेमें होता है और वह है सौर-चान्द्रगणना। इसीके अनुसार पाण्डवोंके १३ वर्ष पूरे होते हैं और भीष्मव्यवस्था भी चरितार्थ हो जाती है। देखिये निम्नलिखित उदाहरण—

(१) यदि द्यूतक्रीडाकी मिति वि० संवत् १९७१ ज्येष्ठ कृष्ण ८ रविवारको मान लें तो उस दिन सूर्य होंगे १।२।४१।२५ और अंग्रेजी तारीख १७ मई सन् १९१४ होती है और अर्जुनके प्रकट होनेकी मिति वि० सं० १९८४ ज्येष्ठ कृ० ८ मं० को मान लें तो उस दिन सूर्य होंगे १।९।३।६ और तारीख १४ मई सन् १९२७ ई०। दोनों समयोंके अन्तर होंगे—

सौर-चान्द्रमानसे—१३ वर्ष, १ दिन (चौदहवें वर्षका प्रथम दिन)।

सौर-मानसे —१३ वर्ष, ६ दिन।

अंग्रेजी-मानसे—१३ वर्ष, ७ दिन।

और वेदाङ्गज्यौतिषके चान्द्रमानसे होते हैं १३ वर्ष, ५ महीने और १२ दिन। यही थी भीष्मजीकी व्यवस्था।

इसी प्रकार यदि द्यूतक्रीडाकी मिति वि० सं० १९७३, १९८१, १९८८ अथवा १९९० की ज्येष्ठ कृष्ण अष्टमीको मान लें तो क्रमशः अर्जुनके प्रकट होनेकी मिति वि० संवत् १९८६, १९९४, २००१ तथा २००३ की ज्येष्ठ कृष्ण अष्टमी माननेपर अन्तर होते हैं—

सौर-चान्द्रमानसे—१३ वर्ष, १ दिन (चौदहवें वर्षका प्रथम दिन)।

सौर-मानसे—१३ वर्ष, ६ दिन।

और वेदाङ्गज्यौतिषके चान्द्रमानसे होते हैं १३ वर्ष, ५ महीने और १२ दिन। यही थी भीष्मजीकी व्यवस्था।

उपर्युक्त पाँचों उदाहरण विशुद्ध सिद्धान्तगणनाके सूर्यसिद्धान्तीय पञ्चाङ्गसे दिये गये हैं। अतएव यह प्रमाणित हो जाता है कि महाभारत-युद्धकालमें भारतमें सिद्धान्त-ज्योतिषकी गणनाका ही प्रचार था और उसी गणनाके अनुसार राष्ट्रमितिके रूपमें कालगणनाका व्यवहार अबाधरूपसे होता था।

पृथ्वी-परिभ्रमणका भ्रम

सिद्धान्तज्योतिषका सूर्यपरिभ्रमण-सिद्धान्त भी बड़े ही महत्त्वका विषय है; क्योंकि आज सारे संसारके गणितज्ञ और वैज्ञानिक पृथ्वी-परिभ्रमणसिद्धान्तको मानते हैं और उनकी वैज्ञानिकताका प्रभाव हमारे भारतीय विद्वानोंके हृदयोंपर इतना गहरा पड़ा है कि वे अपनेपनको भूलकर और अपने ज्योतिषसिद्धान्तोंपरसे श्रद्धा हटाकर, भूपरिभ्रमणको अपने वेदमन्त्रों और अपने ज्योतिषसिद्धान्तोंद्वारा समर्थन करके संसारके वैज्ञानिकोंके प्रति अपना और हिंदू-संस्कृतिके प्रतीक हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानका आत्मसमर्पण कर देनेमें ही अपना और अपने देशके ज्ञान-भण्डारका गौरव समझते हैं।

स्व० महामहोपाध्याय बापूदेवशास्त्रीने भूभ्रमणपर 'प्राचीन ज्योतिषाचार्याशय' नामकी एक पुस्तिका लिखी है, जिसमें इस भूभ्रमणमतको अपने प्राचीन ज्योतिषसिद्धान्तोंके अनुकूल लिखा है और स्व० महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदीने यद्यपि 'भूगोलचलाचलनिरूपण' नामकी पुस्तिकामें इस मतकी पहले किंचित् आलोचना की है, तथापि पीछेसे उन्होंने भूभ्रमणमतका समर्थन ही किया है। और आर्यसमाजके संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती अपनी ऋग्वेदादिभूमिकामें तथा उनके ही पदानुगामी न जाने कितने विद्वान् अपने-अपने लेखोंमें 'वेदोंमें पृथ्वीकी गति' लिखते देखे गये हैं।

यदि हमारे भारतीय विद्वान् वैज्ञानिकोंके भूभ्रमणमतको सत्य मान लें और उनका विश्वास हो कि यह सत्य है तो अधिक आपत्तिकी बात नहीं। जब हम इस संसारको तात्त्विक दृष्टिसे मिथ्या मानते हुए भी अपने व्यवहारमें उसे सत्य मानकर ही सब कुछ करते हैं, तब भूभ्रमणको सत्य और सूर्यभ्रमणको तात्त्विक दृष्टिसे मिथ्या मानते हुए

भी हमारे पूर्वज संस्कृत-साहित्यमें यदि मानवदृष्टिके आधारपर सूर्यपरिभ्रमणको सत्य मानते हैं तो कोई आश्चर्यका विषय नहीं; क्योंकि ज्योतिर्गणनामें दोनों मतसे एक ही फल निष्पन्न होता है। ग्रहण, ऋतुपरिवर्तन, दिन-रात आदि सभी विषयोंके गणितमें दोनों मतोंसे एक ही उत्तर आता है, किंतु ऐसा न करके अपने वेदमन्त्रोंके अर्थोंमें खींचातानी करके और **'गौरादित्यः'** इस निरुक्त और इसके भाष्यको आँखसे ओझल करके **'गौरिति पृथिव्या नामधेयम्'** के अधूरे अर्थको अपनाकर 'वेदोंमें पृथ्वीकी गति' सिद्ध करनेकी चेष्टा करना और आर्यभट्टके **'अनुलोमगतिर्नौस्थः'** (गी० ४)का विपरीत अर्थ करके और **'प्राणेनैतिककलां भम्'** के पाठको बदलकर **'प्राणेनैतिकलाभूः'** कर देनेमें **'भवांशेऽर्कः'** (गी० १)को और गोलपादके—

उदयास्तमयनिमित्तं नित्यं प्रवहेण वायुनाऽऽक्षिप्तः।
लङ्कासमपश्चिमगोभपञ्जरः सग्रहो भ्रमति॥

—इस श्लोकको भुलाकर आर्यभट्टके नामपर ज्योतिर्गणितके मतसे भूभ्रमण सिद्ध करनेकी चेष्टा करना सर्वथा अनुचित है। हमारे समस्त ज्योतिषसिद्धान्तोंका निश्चित मत है सूर्यपरिभ्रमणका सिद्धान्त और वैदिक मन्त्रों तथा यास्कके निरुक्त और भाष्यका भी यही मत है। इस विषयमें विशेष देखना हो तो हमारी **'सुमतिप्रकाशिका'** का प्रथम (ज्योतिष) खण्ड देखें।

ज्योतिर्विज्ञानके मूलभूत कालगणनाकी ओर ध्यान देनेसे इसका महत्त्व प्रकाशमें आ जाता है। भगवद्गीता (८।१७), महाभारत-शान्तिपर्व (२३१।३१), मनुस्मृति (१।७३), निरुक्त (१४।९) और शाकल्यसंहितान्तर्गत ब्रह्मसिद्धान्त (१।४४—४५) में यही श्लोक आया है—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

अर्थात् एक सहस्र चतुर्युगपर्यन्त जो ब्रह्माजीका दिन और सहस्र युगोंतकको रात्रि होती है, इस गणनाको अहोरात्रविद् ज्योतिर्विद् ही जानते हैं। इसमें जो सहस्र युगोंकी बात कही गयी है, उसका विवरण भी मनुस्मृति (१।६६—७३)की व्याख्यामें दिया है और इस सहस्रयुगीय कल्पगणनाके आधारपर हमारे समस्त ज्योतिःसिद्धान्तोंकी ग्रहादि-गणना होती है और निरयणगणनाके मध्यग्रहादिका निर्णय होता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि हमारे ज्योतिःसिद्धान्तकी गणना मनुस्मृति, यास्कके निरुक्त और गीता-महाभारतके पूर्वसे प्रचलित है। सारांश यह कि ज्योतिर्विज्ञानके आधारभूत हमारे ज्योतिःसिद्धान्तकी सूक्ष्म गणना, निर्विकल्परूपसे अति प्राचीनकालसे अथवा यों कहें कि वेदोंके समान ही अनादिकालसे प्रचलित है और इसीके आधारपर वैदिकोंके तिथि-पर्वादि-ज्ञानके लिये ज्योतिर्विदोंने स्थूलरूपसे चुटकुले बना दिये थे, जो इस समयमें याजुष और आर्चज्यौतिषके नामसे प्रसिद्ध वेदाङ्गज्यौतिष कहे जाते हैं और पाश्चात्त्य विद्वानोंने तथा उनके अनुयायी भारतीय इतिहास-लेखकोंने उन्हींको भारतके सबसे प्राचीन ज्योतिर्ग्रन्थ कहकर हमारे हिंदू-ज्योतिर्विज्ञानरूपी सूर्यके ऊपर धूल झोंकनेकी-सी व्यर्थ चेष्टा की है।

गहि सरन चरन की

(श्रीराधाकृष्णजी श्रोत्रिय, 'साँवरा')

बसि निकट विकट संकट के तट, नित नाम रटौं, नव नागर नट।
अति पाय विपत्ति घोर घन घट, त्रय-ताप प्रखर तम-आँधी अट॥
मन मान प्रमान कृपा उत्कट, गहि सरन चरन की त्यागि कपट।
'साँवर' सहजहिं छूटैं झंझट, जब जाग उठै अनुराग सिमट॥

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें सृष्टि-रचना

सृष्टिश्चतुर्विधा प्रोक्ता त्वादिसंकल्पजा प्रभोः।
ब्रह्मजा चान्नजा तुर्या क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगजा॥

गीतामें सृष्टि-रचनाका वर्णन चार प्रकारसे हुआ है, जो इस तरह है—

(१) **महासर्ग**—ब्रह्माजीकी और सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति महासर्गमें होती है। यह महासर्ग भगवान्‌के संकल्पसे होता है। भगवान्‌का संकल्प क्यों होता है? महाप्रलयमें सम्पूर्ण जीव अपने-अपने कर्मोंके संस्कारोंके साथ कारणशरीरसहित प्रकृतिमें लीन होते हैं और प्रकृति उन सम्पूर्ण प्राणियोंसहित भगवान्‌में लीन होती है। प्रकृतिमें लीन हुए उन प्राणियोंके कर्म जब परिपक्व होकर फल देनेके लिये उन्मुख हो जाते हैं, तब भगवान्‌में **'एकोऽहं बहु स्याम्'**—'मैं अकेला ही बहुत हो जाऊँ'—ऐसा संकल्प होता है। ऐसा संकल्प होते ही भगवान् अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके ब्रह्माजीकी*, सम्पूर्ण जीवोंके शरीरोंकी और सम्पूर्ण लोकोंकी रचना करते हैं; परंतु रचना-रूपसे परिणति तो प्रकृतिमें ही होती है अर्थात् सम्पूर्ण जीवोंके शरीरोंका निर्माण तो प्रकृतिसे ही होता है। इसलिये भगवान्‌ने गीतामें दो बातें कही हैं कि मैं महासर्गमें प्राणियोंके शरीरोंका निर्माण करता हूँ तो प्रकृतिको स्वीकार करके ही करता हूँ (९।७-८); और प्रकृति प्राणियोंके शरीरोंका निर्माण करती है तो मेरी अध्यक्षतासे अर्थात् मुझसे सत्तास्फूर्ति पाकर ही करती है (९।१०)।

महासर्गका वर्णन गीतामें दूसरी जगह इस प्रकार आया है—

चौथे अध्यायके पहले श्लोकमें 'यह अविनाशी योग पहले (महासर्गके आदिमें) मैंने सूर्यसे कहा था' और तीसरे श्लोकमें 'वही यह पुरातन (महासर्गके आदिमें कहा हुआ) योग मैंने आज तुमसे कहा है'—ऐसा कहकर भगवान्‌ने महासर्गका वर्णन किया है।

चौथे अध्यायके ही तेरहवें श्लोकमें भगवान्‌के द्वारा गुणों और कर्मोंके अनुसार चारों वर्णोंकी रचनाकी बात आयी है, जो कि महासर्गका समय है।

आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें **'विसर्गः कर्मसंज्ञितः'** पदोंमें भगवान्‌के द्वारा सृष्टि-रचनाके लिये संकल्प करनेको 'विसर्ग' कहा गया है, जो कि महासर्गका समय है।

दसवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'चार सनकादि, सात महर्षि और चौदह मनु मेरे मनसे उत्पन्न होते हैं, जिनकी संसारमें यह प्रजा है'—ऐसा कहकर महासर्गका वर्णन किया गया है।

चौदहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें प्रकृतिको बीज धारण करनेका स्थान और अपनेको बीज प्रदान करनेवाला पिता बताकर भगवान्‌ने महासर्गका वर्णन किया है।

सत्रहवें अध्यायके तेईसवें श्लोकमें 'जिस परमात्माके 'ॐ, तत् और सत्'—ये तीन नाम हैं, उसी परमात्माने सृष्टिके आदिमें वेद, ब्राह्मण और यज्ञोंकी रचना की है'—ऐसा कहकर महासर्गका वर्णन किया गया है।

अठारहवें अध्यायके इकतालीसवें श्लोकमें 'स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्मोंका विभाग किया गया है'—ऐसा कहकर भगवान्‌ने महासर्गका वर्णन किया है।

(२) **सर्ग**—ब्रह्माजीके सोनेपर प्रलय होता है और जागनेपर सर्ग होता है। सर्गके समय ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि प्रलयके समय सम्पूर्ण प्राणी अपने-अपने सूक्ष्म और कारण-शरीरोंके सहित ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरमें लीन हो जाते हैं और सर्गके समय पुनः उन सूक्ष्म और कारण-शरीरोंके सहित ब्रह्माजीके सूक्ष्मशरीरसे प्रकट हो जाते हैं (८।१८-१९)।

* कभी तो भगवान् स्वयं ब्रह्मारूपसे प्रकट होते हैं और कभी जीव अपने पुण्यकर्मोंके कारण ब्रह्मा बन जाता है।

तीसरे अध्यायके दसवें श्लोकमें 'प्रजापति ब्रह्माजीने सृष्टिके आदिमें यज्ञ (कर्तव्य-कर्म)के सहित प्रजाकी रचना की'—ऐसा कहकर सर्गका वर्णन किया गया है।

[महासर्गमें तो भगवान् जीवोंका कारण-शरीरके साथ विशेष सम्बन्ध करा देते हैं—यही भगवान्‌के द्वारा प्राणियोंकी रचना करना है और सर्गमें ब्रह्माजी जीवोंका सूक्ष्मशरीरके साथ विशेष सम्बन्ध करा देते हैं—यही ब्रह्माजीके द्वारा प्राणियोंकी रचना करना है।]

(३) **सृष्टिचक्र**—पहले तो ब्रह्माजीकी मानसिक सृष्टि होती है। इसके बाद ब्रह्माजीसे स्थूलरूपमें स्त्री और पुरुषका शरीर उत्पन्न होता है। फिर स्त्री-पुरुषके संयोगसे यह सृष्टि चल पड़ती है, इसका नाम है—सृष्टिचक्र। इसी बातको गीतामें कहा गया है कि अन्नसे अर्थात् स्त्री-पुरुषके रज-वीर्यसे सब प्राणी पैदा होते हैं; अन्न वर्षासे पैदा होता है; वर्षा कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञसे होती है; उस कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञकी विधिका विधान वेद और वेदानुकूल शास्त्रोंसे होता है; वेद परमात्मासे प्रकट होते हैं, अतः परमात्मा ही सर्वगत हैं अर्थात् सबके मूलमें परमात्मा ही विद्यमान हैं (३। १४-१५)। सृष्टि चाहे भगवान्‌से हो, चाहे ब्रह्माजीसे हो, अन्न (रज-वीर्य)से हो अर्थात् चाहे महासर्ग हो, चाहे सर्ग हो, चाहे सृष्टिचक्र हो, सबके मूलमें एक परमात्मा ही रहते हैं। अतः इन तीनों सृष्टियोंका तात्पर्य सबके मूल परमात्माके सम्मुख होनेमें ही है।

(४) **क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग**—जीवोंका अपने-अपने शरीरों-के साथ जो तादात्म्य है, उसे 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका संयोग' कहते हैं। इसीको 'प्रकृति-पुरुषका संयोग', 'जड़-चेतनका संयोग' और 'अपरा-परा-प्रकृतिका संयोग' भी कहते हैं। जीवोंका स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरोंके साथ जो 'राग' है, वही संयोग है। इस संयोगके कारण ही जीवोंकी उत्पत्ति होती है, जन्म-मरण होता है (१३। २१)। तात्पर्य यह है कि इस संयोग (राग)से ही जीवोंका महासर्गमें कारण-शरीरके साथ, सर्गमें स्थूलशरीरके साथ और सृष्टिचक्रमें माता-पिताके रज-वीर्यके साथ सम्बन्ध हो जाता है।

जीवोंके शरीरके साथ जो तादात्म्य है, राग है, सम्बन्ध है, उसका वर्णन गीताके सातवें अध्यायके छठे श्लोकमें और तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें तथा छब्बीसवें श्लोकोंमें किया गया है।

उपर्युक्त महासर्ग, सर्ग, सृष्टिचक्र और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग—इन चारोंका तात्पर्य यह है कि चाहे महासर्ग हो, चाहे सर्ग हो, चाहे सृष्टिचक्र हो और चाहे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोग हो, इन सबमें परमात्माका जीवोंके साथ और जीवोंका परमात्माके साथ अटूट सम्बन्ध रहता है। केवल शरीरकी परवशताके कारण जीव बार-बार जन्मता-मरता रहता है। यह परवशता भी इसकी स्वयंकी बनायी हुई है। यदि इस परवशताको छोड़कर जीव परमात्माके सम्मुख हो जाय तो वह प्रत्येक परिस्थितिमें परमात्माको प्राप्त हो सकता है।

गीतामें सर्वश्रेष्ठ साधन

गीतामें परमात्मप्राप्तिके लिये बहुत-से साधन बताये गये हैं और उन्हें श्रेष्ठ भी बताया गया है। जिस साधनमें साधककी रुचि, विश्वास और योग्यता है, वही उस साधकके लिये श्रेष्ठ है; क्योंकि उसी साधनको करनेसे उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। गीतामें जहाँ-कहीं जिस-किसी साधनको श्रेष्ठ बताया गया है, वह श्रेष्ठता वहाँके प्रसङ्ग या अधिकारको लेकर बतायी गयी है। बहुत-से श्रेष्ठ साधन होनेपर भी भगवान्‌ने सर्वश्रेष्ठ साधन भक्तिको ही माना है।

गीताके अनुसार कर्म न करनेकी अपेक्षा अपने कर्तव्यका पालन करना श्रेष्ठ है (३। ८); क्योंकि जबतक मनुष्यका प्रकृति (शरीर)के साथ सम्बन्ध है, तबतक वह कर्म किये बिना नहीं रह सकता। वह शरीर, मन और वाणीसे कुछ-न-कुछ कर्म तो करेगा ही। यदि वह कर्तव्य-कर्म नहीं करेगा तो अकर्तव्य करेगा, विपरीत काम करेगा, जिससे वह बँध जायगा। अतः कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्तव्य-कर्म करना श्रेष्ठ है।

शास्त्रोंने वर्णाश्रमके अनुसार जिस मनुष्यके लिये जिस कर्मको करनेकी आज्ञा दी है, उसके लिये वह

स्वधर्म है और जिस मनुष्यके लिये उस कर्मको करनेका निषेध किया है, उसके लिये वह परधर्म है। अधिक गुणोंवाले परधर्मकी अपेक्षा गुणोंकी कमीवाला भी अपना धर्म (स्वधर्म) श्रेष्ठ है। अपने धर्मका पालन करनेसे मनुष्यको पाप नहीं लगता और अपने धर्मका पालन करते हुए मृत्यु भी हो जाय तो भी अपना धर्म कल्याण करनेवाला है (१८।४७;३।३५)।

द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है (४।३३)। कारण कि द्रव्ययज्ञमें पदार्थ, व्यक्ति, देश, काल, परिस्थिति, अवस्था आदिकी आवश्यकता रहती है और इनके द्वारा ही द्रव्ययज्ञ पूरा होता है, अतः द्रव्ययज्ञमें परतन्त्रता है, परंतु ज्ञानयज्ञमें पदार्थ, व्यक्ति आदिकी आवश्यकता नहीं होती; अतः ज्ञानयज्ञमें स्वतन्त्रता रहती है। इसलिये ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है।

तपस्वी, ज्ञानी और कर्मीसे समतायुक्त मनुष्य श्रेष्ठ है (६।४६)। कारण यह है कि तपस्वी, ज्ञानी और कर्मीमें सकामभाव है, तपस्वी तपस्या करके अणिमादि सिद्धियाँ चाहता है, ज्ञानी शास्त्रका ज्ञान सम्पादन करके मान-बड़ाई, सुख-आराम चाहता है और कर्मी कर्म करके धन, संग्रह, भोग, स्वर्ग आदि चाहता है, परंतु समतायुक्त मनुष्य कुछ भी नहीं चाहता, अतः वह तीनोंसे श्रेष्ठ है।

अभ्याससे ज्ञान, ज्ञानसे ध्यान और ध्यानसे सर्वकर्मफल-त्याग श्रेष्ठ है (१२।१२); क्योंकि अभ्यास, ज्ञान और ध्यानमें समता नहीं है। समताके बिना ये तीनों ही अधूरे रह जाते हैं। सर्वकर्मफलत्यागमें समता रहती है, अतः यह श्रेष्ठ है।

सांख्ययोगसे कर्मयोग श्रेष्ठ है (५।२)। कारण कि सांख्ययोगमें नया विचार करना पड़ता है और उत्कट वैराग्य होनेसे—कहीं भी राग नहीं होनेसे ही कल्याण होता है। वैराग्यके बिना ज्ञान (विवेक-विचार) केवल तोतेकी तरह सीखी हुई बातोंमें रह जाता है, परंतु कर्मयोगमें मनुष्य जिस कामको करता आया है, उसमें केवल सुधार करना है अर्थात् मनुष्यका कर्म करनेका स्वभाव तो है ही, उसमें केवल कामना-आसक्तिका त्याग करना है। जैसे—पत्नी पतिकी, पुत्र माँ-बापकी, शिष्य गुरुकी, नौकर मालिककी और नीचे वर्णवाला ऊँचे वर्णवालेकी सेवा करते आये ही हैं, इसमें केवल अपने सुख-आराम, स्वार्थभाव, कामना-आसक्तिका त्याग करना है। यह त्याग करना सुगम है। अतः कर्मयोग श्रेष्ठ है।

उपर्युक्त साधनोंसे तथा इनके अतिरिक्त गीतामें कहे हुए ध्यानयोग, लययोग, हठयोग आदि सभी साधनोंसे भक्तियोग श्रेष्ठ है (६।४७)। कारण कि दूसरे साधकोंमें अपने साधनके बलका आश्रय रहता है, अतः उनके गिरनेकी सम्भावना रहती है, परंतु भक्तियोगी साधकमें केवल भगवान्‌का ही आश्रय रहता है, वह केवल भगवन्निष्ठ रहता है; अतः उसके गिरनेकी सम्भावना रहती ही नहीं। भक्तका उद्धार स्वयं भगवान् करते हैं (१२।७)। उसके अज्ञानका नाश स्वयं भगवान् करते हैं (१०।११)। उसके योगक्षेमका वहन स्वयं भगवान् करते हैं (९।२२)। उसे भगवान् सुगमतासे मिल जाते हैं (८।१४)। वह अनन्य-भक्तिसे भगवान्‌का प्रत्यक्ष प्रदर्शन कर सकता है, भगवान्‌को तत्त्वसे जान सकता है और भगवान्‌में प्रवेश कर सकता है (११।५४)। तात्पर्य यह है कि दूसरे साधकोंमें तो कमी भी रह सकती है और अन्तसमयमें अन्यचिन्तन, मूर्च्छा आदि किसी कारणसे साधनसे विचलित होकर वे योगभ्रष्ट भी हो सकते हैं, उनका फिर दूसरा जन्म भी हो सकता है; परंतु भक्तमें कोई कमी रह जाय तो उसे दूर करनेकी जिम्मेवारी भगवान्‌की होती है। भगवान् उस कमीको दूर कर देते हैं। अन्तसमयमें भक्तको किसी कारणसे भगवान्‌की स्मृति न रहे तो स्वयं भगवान् उसे याद करते हैं। अतः भक्त योगभ्रष्ट नहीं होता, उसका दूसरा जन्म नहीं होता। इसलिये भगवान्‌ने भक्तियोगको सम्पूर्ण साधनोंसे और भक्तियोगीको सम्पूर्ण साधकोंसे श्रेष्ठ बताया है (६।४७; १२।२)।

गायोंकी गोष्ठी

एक दिन एक चरागाहमें बहुत-सी गायें एकत्र हुईं। गायोंके झुंडसे पूरा चरागाह भर गया। हरी-हरी घास चरती, इधर-उधर घूमती, रँभाती, जुगाली करती गायें बड़ी ही प्यारी लग रही थीं।

बरसातका मौसम था। आकाशमें हलके-हलके बादल छाये थे, ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी। जब पेट भर चुका, तब सारी गायें जुगाली करनेके लिये पास-पास घेरा बनाकर बैठ गयीं।

बूढ़ी सोना गाय उस दिन कुछ उदास थी। उसे देखकर नीलासे न रहा गया, वह बोली—'क्या बात है चाची! आज तुम बहुत उदास दीख रही हो। बीमार हो क्या?'

सोनाने सिर ऊपर उठाया। सारी गायें आपसी बातचीत बंद करके उसकी ओर देखने लगीं। सोना कहने लगी—'बच्चियो! तुम्हें क्या बताऊँ! अब मैं बूढ़ी होती जा रही हूँ न? इसलिये मालिकको दूध नहीं दे पाती। इस कारण मैं उनके लिये बेकार हो गयी हूँ। वे मुझे दुत्कारते ही रहते हैं। डर है कि कहीं वे मुझे कसाईको न दे दें। मैं तो भगवान्से प्रतिक्षण बस अपनी मौतकी कामना करती रहती हूँ।'

यह सुनकर काली गायको बड़ा ही क्रोध आया। वह अपने सींगोंको जोरसे हिलाती हुई बोली—'ये मनुष्य बड़े ही स्वार्थी होते चले जा रहे हैं। तुम्हारे मालिकके सारे बच्चे तुम्हारे ही दूधसे पलकर बड़े हुए हैं। एक प्रकारसे तुम उनकी धाय हुई। तुमपर अत्याचार करनेमें उन्हें लज्जा आनी चाहिये।'

पीता बोली—'मैं तो एक बात पूछती हूँ। जब उनके माता-पिता बुड्ढे और अनुपयोगी हो जायँगे, तब क्या वे उन्हें भी कसाईको पकड़ा देंगे?'

'यह तो सोचनेकी बात है'—श्यामाने कहा।

श्वेता बोली—'मैंने सुना है कि हजारों वर्ष पहले भारतवर्षके निवासी हमें माँ कहते थे। वे माँके समान हमारा सम्मान और पूजन करते थे। उनकी सारी अर्थव्यवस्था हमपर, हमारे बैलों और बछड़ोंपर आधारित थी। गोपालन और कृषि ही उनकी जीविकाका प्रमुख साधन था।'

सोना धीरे-धीरे गर्दन हिलाती हुई बोली—'तभी तो इस देशके निवासी इतने अधिक स्वस्थ थे। तभी तो इस देशमें घी-दूधकी नदियाँ बहा करती थीं।'

आभा, जो अपने ज्ञानके लिये प्रसिद्ध थी, बोली—'सभी प्राणियोंमें एक ही आत्मा निवास करती है। सभीको समान-रूपसे सुख-दुःखकी अनुभूति होती है। फिर मनुष्य न जाने क्यों हम पशुओंसे बुरा व्यवहार किया करते हैं?'

'तुम इनके दुर्व्यवहारकी बात न कहो बहिन! मेरी भी सुनो—ये दुष्ट मेरे नन्हें बछड़ेको दूध नहीं पीने देते। बछड़ा बेचारा रँभाकर रह जाता है। बचा-खुचा दस-बारह बूँद भर दूध ही उसे मिल पाता है'—कालीने कहा।

पीता बोली—'और मुझे मेरे मालिक पेट भर खाना नहीं देते। बस, हरदम यही चेष्टा करते हैं कि कैसे भी अधिक-से-अधिक दूध मेरे थनोंसे निचोड़ ले।'

श्वेताने कहा—'मेरे मालिकके बच्चे इतने उपद्रवी हैं कि वे कभी मेरी पूँछ मरोड़ते हैं तो कभी तंग करनेके लिये डंडेसे मारते हैं। मालिक उनकी करतूतपर हँसते रहते हैं, उन्हें मनातक नहीं करते। उनकी भाषामें हम बोल नहीं सकतीं तो क्या? हममें भी तो प्राण हैं। हमें भी तो कष्ट होता है।'

'बच्चे भला क्या जानें कि क्या उचित है और क्या अनुचित? बच्चोंको तो बचपनसे ही सिखाना पड़ता है। यदि माता-पिता ऐसा नहीं करते तो बच्चे तो बिगड़ेंगे ही, साथ ही वे भी किसी दिन भलीभाँति पछतायेंगे'—आभा बोली।

नन्दा कहने लगी—'पिछले सप्ताहकी ही बात है। मैं बहुत ही बीमार पड़ गयी। पूरे छः दिन मैंने कुछ न खाया। मेरा मालिक यों तो पुचकारता रहा, पर उससे यह नहीं हुआ कि मुझे किसी डाक्टरको ही दिखा देता, कोई जड़ी-बूटी ही मेरे लिये ला देता। घरमें कोई बीमार पड़ता है तो क्या उसके लिये दवा नहीं लाते?'

सोना कहने लगी—'सभीके साथ कुछ-न-कुछ समस्या है ही। हम अपनी भाषासे आँखोंमें मौनभाव भरकर इन मनुष्योंसे न जाने क्या-क्या कहती रहती हैं, पर लगता है, मानो ये मनुष्य हमारे मौनभावोंको समझनेमें बिलकुल असमर्थ हैं या फिर समझकर भी समझना नहीं चाहते।'

आभाने क्रोधमें भरकर खुरोंसे जमीन कुरेदते हुए कहा—'सुनो, सुनाती हूँ इन सब मनुष्योंकी नृशंसताकी पराकाष्ठा तुम्हें। मैंने सुना है कि गाभिनका गर्भ गिराकर बिना जन्मे बछड़ेकी खालसे ये मनुष्य अपने फैशनकी वस्तुएँ—पर्स, सैंडिल आदि बनाते हैं। ये वस्तुएँ बिकती भी खूब महँगी हैं।'

'ओह! यह तो राक्षसी प्रवृत्ति है, अत्याचारकी इति है।'—सभी गायें दुःखसे कराहकर एक साथ चिल्ला उठीं।

'कौन समझाये इन मनुष्योंको कि 'अपने फैशनके लिये', झूठी शानके लिये वे न जाने कितने निरीह प्राणियोंको दुःख देते हैं। उनकी हत्या कर देते हैं। फैशन—झूठी शानके नामपर वे कम-से-कम जानवरोंकी खालसे बनी ऐसी वस्तुएँ तो न अपनायें जिनमें किसी निरीह प्राणीकी आहें बसी हों।'—पीताने बड़े ही वेदनाभरे स्वरमें कहा।

काली बोली—'हमें भी इन मनुष्योंकी भाषा आती तो उनसे कहतीं कि हम जीवनभर तो पूरी शक्तिसे, पूरे मनसे तुम्हारी सेवा करती हैं। जो दूध वास्तवमें हमारे बच्चोंके लिये है, वह सारा-का-सारा तुम्हें दे देती हैं। हमारा गोबरतक तो तुम्हारे लिये बेकार नहीं है। उससे तुम अच्छी खाद बनाते हो, कंडे बनाकर ईंधनका काम लेते हो। मर जानेपर हमारी खाल तुम्हारे काम आती है। फिर तुम सबका भी यह कर्तव्य हो जाता है कि हमारे साथ बुरा व्यवहार न करो। हमें भर-पेट खाना दो। हमपर बात-बातमें डंडे मत बरसाओ। दूध न देनेपर भी हमारा पालन करो। हमारी पहली सेवाओंको स्मरण करके हमें कसाईको न पकड़ाओ। हम भी प्राणी हैं, हमें भी दुःख पहुँचता है। हमारे साथ वह व्यवहार न करो जो तुम्हें अपने लिये पसंद न हो।'

तभी दूर बैठा बाँसुरी बजाता नन्दू ग्वाला गायोंको घर ले चलनेके लिये आ गया।

अन्तमें 'भगवान् इन मनुष्योंको सद्‌बुद्धि दें कि वे जीवोंपर दया करें'—सोनाने कहा और सारी गायें घर चलनेके लिये उठ खड़ी हुईं।—युगनिर्माण योजनासे उद्धृत

(प्रेषक—श्री जयदयालजी डालमिया)

बाल-छवि

(स्वामी श्रीसनातनदेवजी)

कर झुनझुना लिये हरि डोलत।
डगमग चाल चलत नँद-नंदन कल-बल बानी बोलत॥
अरुन अधर बिच द्वै-द्वै दँतियाँ झाँकहिं जब मुख खोलत।
मनहुँ अरुन पंकज-दल बिच द्वै मुक्ताहलहिं पपोलत॥
सिर जूड़ो मणिमाल-ग्रथित, गल कठुला बघनख डोलत।
स्याम अंगपै पीत झँगुलिया हरित्कान्ति जनु खोलत॥
पद-पंकज पैंजनिकी रुनझुन मुनिजनके मन मोहत।
कैसें कहा कहों या छविकों छवि हूँ जासों छोहत॥
कनिया लै दुलरावति मैया, प्रमुदित सो छवि जोहत।
रोम-रोम ब्रह्मांड जासु तन जननि-अंक सो सोहत॥

दूसरोंके हृदयको जीतनेका उपाय

प्रायः यह देखनेमें आता है कि जब हम दूसरोंको अपनी विचारधारामें बहाना चाहते हैं या उनकी राय बदलना चाहते हैं, तब बुद्धितत्त्वके आधारपर तर्क-वितर्कका अधिक सहारा लेते हैं तथा मानव-मनकी भावनाओं और अनुभूतियोंकी लेशमात्र भी चिन्ता न करके तर्कशास्त्रके शुष्क धरातलपर उतर आते हैं। उस समय इस बातपर बिलकुल ध्यान नहीं दिया जाता कि भावनाओं और अनुभूतियोंका क्या स्थान है। हम सीधे अनावश्यक वाद-विवादको छेड़ देते हैं। अपने दृष्टिकोणको सरल, स्पष्ट, मधुर और हृदयग्राही बनानेकी अपेक्षा हम दूसरोंके दृष्टिकोणकी कटु आलोचना करने लगते हैं। हमें चाहिये कि हम अपने विचारोंकी व्याख्या, उनकी उपयोगिता तथा उनसे अन्य लोगोंके सम्बन्ध आदि बातोंको आकर्षक ढंगसे रखें, पर हम ऐसा न करके दूसरोंके विचारोंपर ही अनुचित ढंगसे प्रहार करना प्रारम्भ कर देते हैं और विचारोंकी झोंकमें गँवारू ढंगसे कह उठते हैं कि वह गुमराह है। इस प्रकार हम उसके आत्मसम्मान और आत्मगौरवकी भावनाओंपर कठोर प्रहार करने लगते हैं, जिससे शीघ्र ही द्वेषपूर्ण घृणा उत्पन्न हो जाती है और आपसमें अनुचित और तीक्ष्ण शब्दोंका आदान-प्रदान होने लगता है। इस प्रकार न तो हम दूसरोंके दृष्टिकोणको बदल पाते और न उन्हें अपना मित्र ही बना पाते हैं, अपितु उनके पूर्व विचारोंको और दृढ़ करके उन्हें अपना शत्रु बना लेते हैं।

इस प्रकारकी असफलताका कारण स्पष्ट है। मूल कारण यह है कि हम यह बिलकुल भूल जाते हैं कि मनुष्य तर्कशास्त्रकी सृष्टि नहीं है। मनुष्य अनुभूतियों और भावनाओं, विचारों और इच्छाओं, द्वेष और घृणा, अभिमान और अहंभाव, भय और आदर, शक्ति और सम्मानका अनुगामी है। वह तर्कशास्त्रके वशीभूत कभी नहीं हो सकता। हमें सदैव ध्यान रखना चाहिये कि वे लोग मनुष्य हैं, देवता नहीं हैं। उनके विचार और भावनाएँ शिलाखण्डपर लिखे अक्षर नहीं हैं। हममेंसे प्रत्येक अपनेको बुद्धिमान्, विचारवान् तथा तर्कशास्त्री होनेका दावा करता है और उसीके अनुसार प्रयत्न भी करता है, परंतु जब वही बात प्रत्यक्ष अनुभवमें आती है, तब हमें ज्ञात होता है कि हमारे प्रदर्शनमें बुद्धितत्त्वकी अपेक्षा पूर्वनिर्मित धारणाएँ तथा कल्पनाएँ अधिक कार्य करती हैं। तर्क हमारे साथ कार्य करनेमें असमर्थ सिद्ध होता है।

तर्क-वितर्कसे विजय कम होती है। वह अधिकतर व्यर्थ सिद्ध होता है। यदि कभी विजय भी हो जाय तो वह पराजयसे भी गयी-बीती होगी। मान लिया कि हमने किसीको अपने तर्क-बलसे कोई बात मनवा दी और उसने स्वीकार भी कर ली, पर विश्वास रखना चाहिये कि यह उसकी मान्यता बाहरी तथा क्षणस्थायी है। उसके विचारोंमें कोई स्थायी परिवर्तन नहीं हो सकता। वह हमारे आश्चर्यजनक प्रभावशाली तर्कके सामने ठहर न सके, वचनबद्ध भी हो जाय और आत्मसमर्पण भी कर दे—यह सब कुछ होनेपर भी हृदय अपनी पूर्वदशामें ही बना रह सकता है। इससे हृदय नहीं बदल सकता।

यह स्वाभाविक बात है कि हम उन्हीं बातोंमें विश्वास करना अधिक पसंद करते हैं, जिनमें बहुत पहलेसे विश्वास करते आ रहे हैं। हम इस बातकी बहुत कम परवा करते हैं कि हमारा विश्वास तर्कपूर्ण है या तर्कहीन। मानव-मन अपनी स्मृतियोंसे स्नेह करता है। जो विचार हमारे मस्तिष्कमें घर कर चुके हैं, उनके प्रति सम्मानकी भावना अवश्य बढ़ती जाती है। उन विचारोंसे हमें ममता और मोह होता है। अतः उनका अपहरण हमारे लिये असह्य होता है। जब हमें यह ज्ञात होता है कि कोई व्यक्ति हमें लूटना चाहता है, तब हृदय व्याकुल हो उठता है। हम यह कभी भी सुननेको तैयार नहीं होंगे कि हमारे विचार निरर्थक हैं। जब कोई हमारे विचारोंपर प्रहार करना चाहता है,

तब हम पूर्ण शक्तिके साथ उनकी रक्षा करते हैं। दूसरोंके द्वारा जितना ही इस बातका प्रयत्न किया जाता है कि हमारे विचार ठीक नहीं हैं, उतना ही हम अपने विश्वासोंमें दृढ़ होते जाते हैं। यही है मानव-स्वभाव। यह बात हमारे साथ, आपके साथ और सबके साथ है। तर्क-वितर्क, खण्डन-मण्डनसे भेदभाव अधिक बढ़ता है। इसमें घृणाके कारण ऐसा अन्तर पड़ जाता है कि उसे भरना कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्थामें दूसरोंपर वास्तविक विजय कभी सम्भव नहीं हो सकती।

यदि हम तर्क-वितर्क, वाद-विवाद तथा खण्डन-मण्डन आदिको त्यागकर मैत्रीपूर्ण ढंगसे दूसरोंके विचारोंके प्रति प्रेम तथा सम्मान प्रकट करें तो सफलताके संयोग अधिक प्राप्त होते हैं। यदि हम किसीको प्रेम और सहानुभूतिके साथ संतुष्ट कर सकें या कोई बात मनवा सकें तो निस्संदेह हम उसके वास्तविक शुभचिन्तक तथा सच्चे मित्र बन जायँगे। उसका हमपर विश्वास होगा। और कुछ नहीं तो कम-से-कम वह हमारी बात ध्यानपूर्वक अवश्य सुनेगा। उसके विचारोंको निरर्थक और दोषयुक्त बतलानेकी अपेक्षा यदि हम प्रेम तथा सौहार्दके साथ अपने सुलझे विचारोंसे उसे प्रभावित करते हुए उसके हृदयको छूनेका प्रयत्न करें तो यह निश्चय है कि वह हमारी ओर आकर्षित होने लगेगा।

विरोध, तर्क-वितर्क, कटु आलोचना तथा बालकी खाल निकालनेसे हम किसीको अपना मित्र नहीं बना सकते। सच्चे मित्र इस ढंगसे प्राप्त नहीं होते। वह दूसरा मार्ग ही है। वह मार्ग प्रेम और सहानुभूतिका है, जिसपर सब ओर मित्र-ही-मित्र दिखायी पड़ते हैं। प्रत्येक क्रियाकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक बात है। यदि आप किसीको गाली देंगे तो बदलेमें गाली खायेंगे। यदि आप किसीको मूर्ख कहेंगे तो आपको भी मूर्ख कहा जायगा। आप आलोचना करेंगे तो आपको प्रत्यालोचना अवश्य मिलेगी। इसी प्रकार यदि आप प्रेम करेंगे तो अवश्य प्रेमका प्रतिदान होगा। जैसा बोयेंगे, वैसा काटेंगे। यह सीधी-सी बात है।

प्रेम ही महान् शक्ति है, जो प्रत्येक दशामें जीवनको आगे बढ़ानेमें सहायक होती है। हमें सदैव सहनशील बनना तथा धैर्यका सहारा लेना चाहिये। मतवैभिन्न्यके चक्करमें हमें नहीं पड़ना चाहिये। प्रत्येककी बातको शान्तिसे सुननेका स्वभाव होना चाहिये। कट्टरता और कायरताको त्यागकर प्रत्येकको सच्चे हृदयसे प्रसन्न करनेका प्रयत्न करना चाहिये। दूसरोंकी कटु आलोचनाको छोड़ देना चाहिये। विश्वास रखिये कि आपकी प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण सच्ची बातोंको सुननेके लिये दुनिया विवश होगी।

सच्ची मान्यता प्रेमके द्वारा ही हो सकती है। बिना प्रेमके मान्यता कृत्रिम होगी। शेक्सपियरके अनुसार कहना अनुचित न होगा कि 'बिना प्रेमके किसीके विचारोंमें परिवर्तन नहीं लाया जा सकता।' विचार तर्क-वितर्ककी सृष्टि नहीं है। विचारधारणा तथा विश्वास बहुकालके सत्संगसे बनते हैं। अधिक समयकी संगतिका ही परिणाम प्रेम है। इसलिये विचारधारणा अथवा विश्वास प्रेमका विषय है।

अतः यदि हम दूसरोंपर विजय प्राप्त करके उन्हें अपनी विचारधारामें बहाना चाहते हैं, उनके दृष्टिकोणको बदलकर अपनी बात मनवाना चाहते हैं तो हमें सच्चे प्रेमका सहारा लेना चाहिये। तर्क और बुद्धितत्त्व हमें आगे नहीं बढ़ा सकते। वास्तवमें प्रेम ही वशीकरणका मूल मन्त्र है।

जितेन्द्रियके लिये घर-वन एक-सा है

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः। जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम्॥

(श्रीमद्भा० ५।१।१७)

'जो प्रमादग्रस्त है उसे वनमें रहनेपर भी पतनका भय रहता है; क्योंकि काम, क्रोध आदि छः शत्रु सदा उसके साथ निवास करते हैं, परंतु जो जितेन्द्रिय और अपने आत्मामें ही रमण करनेवाला है, उस विद्वान् पुरुषका गृहस्थाश्रम भी क्या अनिष्ट कर सकता है?'

साधनोपयोगी पत्र

कुछ महत्त्वके प्रश्नोत्तर

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः निम्नलिखित है—

रावण भगवान् शंकरका भक्त था। अहंकार छोड़कर उनकी शरणमें गया था, इससे प्रसन्न होकर भगवान्ने उसे अतुलित शक्ति प्रदान की थी। उसी शक्तिसे वह सर्वत्र विजयी हुआ तथा कैलास पर्वतको भी उठानेमें समर्थ हो सका; परंतु जब उसके मनमें अपने बलका अभिमान हो आया, तब वह भगवान् शिवकी अहैतुकी करुणाको भूल गया। इससे उसकी सारी शक्ति जाती रही। भगवान्ने तनिक-सा अँगूठा दबाया और वह धँसकर पातालमें चला गया। महिम्नःस्तोत्रमें भी इस प्रसङ्गका उल्लेख हुआ है—

'अलभ्या पातालेऽप्यलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद् ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः।'

इससे यह सिद्ध होता है कि रावणमें स्वतः कोई शक्ति नहीं थी, भगवान्ने ही कृपा करके वह शक्ति दी और जब-जब जहाँ-जहाँ उचित समझा, तब-तब तहाँ-तहाँ रावणमें उस शक्तिको प्रकट किया और जहाँ नहीं उचित समझा, वहाँ उसकी शक्तिको तिरोहित कर दिया। राजा जनकका धनुष भगवान् शंकरका ही धनुष था। रावण जगज्जननी जानकीसे विवाहकी इच्छा लेकर धनुष उठाने और तोड़ने आया था। अपने आराध्यदेवकी आह्लादिनी शक्ति सीताके प्रति उसका ऐसा अनुचित भाव देखकर भगवान् शिवने उस समय उसकी शक्तिको तिरोहित कर दिया, इसलिये वह उस धनुषको तोड़ना तो दूर रहा, उठा भी नहीं सका।

दक्षिणकी ओर पैर और उत्तरकी ओर सिरहाना करके सोनेसे मनुष्यकी आन्तरिक शक्तियोंका ध्रुवकी ओर आकर्षण होता है, इससे आयु क्षीण होती है, शरीरमें निर्बलता आती है और शिरोरोग आदिका भी डर रहता है। असाधारण रोगकी अवस्थामें जब जीवनकी आशा नहीं रहती, तब रोगीको उत्तरकी ओर सिर करके इस उद्देश्यसे सुलाते हैं कि उसका आकर्षण ऊर्ध्वलोककी ओर हो। उस समय ऐसा करना अवश्य आवश्यक है।

आप पूछते हैं कि 'क्या आजकल भारतकी स्त्रियाँ पाँच पति बना सकती हैं?' इस तरहका प्रश्न आजकलके मनचले लोगोंके मस्तिष्ककी उपज है। आजकल ही नहीं, कभी भी भारतकी स्त्रियोंमें एकसे अधिक पति बनानेकी दूषित प्रथा नहीं देखी जाती। आदिशक्ति जगन्माता लक्ष्मी, ब्रह्माणी तथा पार्वतीने एक ही पतिको आत्मसमर्पण किया। भारतकी नारीने जिसे एक बार हृदयमें स्थान दिया, उसीपर सदाके लिये वह निछावर हो गयी। दूसरा कोई कितना ही उत्कृष्ट पुरुष क्यों न हो, उसकी ओर आँख उठाकर उसने देखातक नहीं। उसकी तो यह अटल प्रतिज्ञा रही—

'बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी।'

सावित्रीने सत्यवान्को हृदय प्रदान किया था, फिर यह ज्ञात होनेपर भी कि उनकी आयु केवल एक वर्ष ही शेष है, उसने दूसरे पतिसे विवाह करना अस्वीकार कर दिया। प्राचीन कालमें जहाँ द्रौपदी-जैसे एक-आध उदाहरण ऐसे मिलते हैं, वहाँ उस समयकी परिस्थितिपर दृष्टिपात करनेपर शङ्काके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। वे उदाहरण अपवादमात्र बनकर रह जाते हैं। द्रौपदीके विवाहकी घटना जो महाभारतमें वर्णित है, उसे पढ़नेसे पता लगता है कि तत्कालीन जन-समाजमें इस विवाहका बड़ा विरोध हुआ, स्वयं महाराज द्रुपद भी इस तरहके विवाहके बड़े विरोधी थे; किंतु व्यासजीने जब प्रबल कारण दिखलाये तो भावीके सामने उन्हें नतमस्तक होना पड़ा। मार्कण्डेयपुराणमें स्पष्ट बताया गया है कि द्रौपदी शचीके अंशसे अवतीर्ण हुई थीं और पाँचों पाण्डव इन्द्रके ही अंशविशेषसे प्रकट हुए थे; अतः इनका पूर्व-सम्बन्ध ही उस समय भी स्थिर हुआ। इतना होनेपर भी यह अपवादमात्र घटना है। भारतकी अन्य स्त्रियोंने कभी इस प्रकारके विवाहको प्रोत्साहन नहीं दिया। धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे तो एकाधिक पतिका वरण नारीके लिये महान् पाप है।

मनुष्यकी जिस विषयमें अधिक रुचि है, जिसे देखने-सुनने या पानेके लिये वह अधिक उत्सुक रहता है, वह विषय सामने आनेपर वह बड़ी चाह और उत्साहसे उसे ग्रहण

करता है, ऐसा करनेमें उसे रस मिलता है, अतएव उसे वहाँ नींद नहीं आती; किंतु जिस ओर हृदयका आकर्षण नहीं है अथवा जिसमें उसे रस नहीं आता, ऐसा प्रसङ्ग सामने आनेपर उसे नींद सताने लगती है। इसके सिवा आलस्य, तमोगुणी वस्तुओंके सेवन तथा अधिक श्रम या जागरणके कारण भी नींद आती है। जिन्हें सिनेमामें नींद नहीं आती और रामायणकथा सुननेमें नींद आती है, उनके लिये ऊपर बताया हुआ कारण ही लागू होता है, ऐसा समझना चाहिये।

लहसुन-प्याज आदि वस्तुएँ सभीके लिये निषिद्ध हैं, विद्यार्थियोंको तो विशेषरूपसे इनका त्याग करना चाहिये। जैसे शुद्ध स्वच्छ दर्पणमें ही स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरणमें ही ज्ञानका अधिक प्रकाश होता है। विद्यार्थी ज्ञानका उपार्जन करता है। इसमें सफल होनेके लिये यह आवश्यक है कि उसका हृदय—उसकी बुद्धि शुद्ध हो। तन, मन और बुद्धिपर आहारका बहुत प्रभाव होता है। **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'**—आहारकी शुद्धिसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। इसलिये विद्यार्थीके ब्रह्मचर्यपालनपर अधिक जोर दिया गया है। ब्रह्म शब्द वीर्य, वेद तथा परमात्माका वाचक है। इन तीनोंका क्रमशः धारण, मनन तथा चिन्तन ही ब्रह्मचर्य है। वीर्यधारणसे मस्तिष्क शुद्ध एवं पुष्ट होता है, जिससे सूक्ष्म एवं दुर्बोध विषय भी सरलतासे हृदयङ्गम हो जाता है। सात्त्विक आहारके सेवन, सद्ग्रन्थोंके अध्ययन तथा साधु पुरुषोंके सङ्गसे ही मनमें सात्त्विक भावका उदय होता है। इससे चित्तमें शान्ति एवं आनन्द रहता है। सात्त्विक हृदयसे ही ज्ञानोपार्जन एवं सात्त्विक कर्ममें सफलता मिलती है। लहसुन, प्याज आदि वस्तुएँ तामसिक हैं, इनके सेवनसे आलस्य, निद्रा, प्रमाद आदि तमोगुणी भावोंका उदय होता है। इतना ही नहीं, ये वासनाको उद्दीप्त करनेवाले पदार्थ हैं। इनके द्वारा मनमें विकार पैदा होता है, जिससे मनुष्यका पतन हो जाता है। गीता अध्याय १७के श्लोक ९-१० के अनुसार लहसुन, प्याज आदि तामस तथा मिर्ची आदि राजस भोजन हैं। ये अज्ञान और दुःख [illegible] वृद्धि करनेवाले हैं, अतः

आध्यात्मिक उन्नतिकी इच्छा रखनेवाले सभी लोगोंको इनसे बचना चाहिये।

हनुमान्‌जी अखण्ड ब्रह्मचारी थे। उनके कोई पुत्र नहीं था, परंतु उनके विषयमें यह किंवदन्ती प्रचलित है कि जब हनुमान्‌जी लङ्का जलाकर लौट रहे थे तो उन्होंने अपने शरीरके पसीनेको पोंछा, वह पसीना समुद्रमें गिरा और उसे एक मछली चाट गयी, उसी मछलीके पेटसे एक बलवान् वीर पुरुष प्रकट हुआ, जो पातालवासी अहिरावणके यहाँ द्वारपालका कार्य करता था। उसका नाम मकरध्वज था। सम्भव है कल्पान्तरमें ऐसा हुआ हो और सच्ची बात हो।

शिखण्डी पहले स्त्री ही था। एक दिन वह वनमें चला गया। वहाँ एक यक्षसे उसकी भेंट हुई। यक्षने अपना पुरुषत्व उसे देकर उसका स्त्रीत्व स्वयं ले लिया। दिव्य शक्तिसम्पन्न पुरुषोंके द्वारा ऐसा कार्य होना असम्भव नहीं है।

जो जन्मसे ब्राह्मण हैं, उन्हें ब्राह्मण ही कहा जायगा। यदि उनमें ब्राह्मणोचित कर्म नहीं है तो अथवा वे अब्राह्मणोचित कर्म करते हैं तो उन्हें कर्मभ्रष्ट ब्राह्मण कह सकते हैं। उन्हें वह सम्मान नहीं मिल सकता, जो कर्मनिष्ठ ब्राह्मणको प्राप्त होना चाहिये।

अर्जुन भगवान् नारायणके नित्य-सखा 'नर'के अवतार थे। उनकी मैत्री नित्य-सिद्ध थी। वे भगवान्‌की आज्ञामें अपनेको निछावर कर चुके थे, इसीलिये उन्हें इतना गौरव प्राप्त हुआ।

महारथी कर्ण बलवान् तो थे ही, कुछ दिव्य अस्त्रोंके द्वारा अजेय भी थे, परंतु जिसके रक्षक भगवान् श्रीकृष्ण थे, उस अर्जुनसे तो स्वयं काल भी परास्त हो सकता था, कर्णकी तो बात ही क्या है? भगवान्‌की चातुरीसे कर्णके दिव्यास्त्र उनके पाससे हट गये। गुरुके शापसे अन्तमें उनकी पढ़ी हुई विद्या भूल गयी और अर्जुन-जैसे वीरसे उन्हें सामना करना पड़ा। सबसे बड़ी बात यह है कि स्वयं भगवान् उन्हें परास्त कराना चाहते थे। इन्हीं सब कारणोंसे उनकी पराजय हुई।

मनुष्यके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। सबसे बड़ी बात है संसारके बन्धनोंसे मुक्त होना, परमानन्दमय प्रभुको

प्राप्त कर लेना। यह भी मनुष्यके लिये असाध्य नहीं है। फिर नारदजीके समान भक्त होना क्या बड़ी बात है। नारदजीसे बढ़कर भक्त तो व्रजकी गोपियाँ ही मानी जाती हैं, जिन्हें उन्होंने अपने भक्तिसूत्रमें भक्तिशास्त्रका आचार्य माना है—'**यथा व्रजगोपिकानाम्।**'

धर्मराज युधिष्ठिर कभी झूठ नहीं बोलते थे, यह सत्य है। उन्हें युद्ध-कालमें एक बार असत्य कहनेके लिये बाध्य होना पड़ा था, यह भी उल्लेख मिलता है, किंतु हमें तो उनके सत्यवादितारूप गुणको ही देखना चाहिये।

'**साध्नोति परकार्यमिति साधुः**'—जो दूसरोंके हितका साधन करे, वही साधु है। भर्तृहरिजी कहते हैं—'**एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः**'—दूसरोंके कार्य-साधन करनेवाले साधु पुरुष थोड़े ही होते हैं। गीता अध्याय १२ के श्लोक १३-१४ में जो भक्त पुरुषका लक्षण बताया गया है, वही सच्चे साधुका लक्षण है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

जिसका किसी भी प्राणीसे द्वेष नहीं है, जो निःस्वार्थ भावसे सबका सुहृद्, अहैतुक मित्र है, जिसके हृदयमें सबके प्रति दया है, जो ममता और अहंकारसे ऊपर उठ चुका है, सुख और दुःख दोनोंकी प्राप्तिमें जो समानभावसे रहता है, जिसके मनमें स्वभावसे ही क्षमा है—जो बुरा करनेवालेका भी भला करता है। जो नित्य संतुष्ट, ध्यानपरायण, मन, इन्द्रिय एवं शरीरको वशमें रखनेवाला, दृढ़निश्चयी तथा मुझमें अपने मन, बुद्धिको समर्पित करनेवाला है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।' जो भगवान्‌को भी प्रिय हो, वही वास्तवमें साधु है।

भगवान् अपने साधु भक्तोंके अधीन उसी प्रकार रहते हैं, जैसे सती पतिव्रता पत्नीके अधीन उसका धार्मिक पति। श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—'**वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा।**' (श्रीमद्भा० ९।४।६६)। नारदकी भक्तिको देखकर ही भगवान् उनका अधिक आदर करते थे।

माता-पिताको सदा सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना, समयपर उनकी शारीरिक सेवा करते हुए उन्हें उत्तम अन्न, वस्त्र, आसन आदि प्रस्तुत करना तथा उनकी प्रत्येक शास्त्रसम्मत आज्ञाको भगवान्‌का वाक्य समझकर प्रसन्नतापूर्वक पालन करना ही माता-पिताकी सच्ची सेवा है।

जीविते वाक्यस्वीकारात् क्षयाहे भूरिभोजनात्।
गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता॥

'पिता-माताके जीवित रहनेपर उनकी आज्ञाका पालन करना, मरनेपर उनकी क्षयाह-तिथिपर अधिक ब्राह्मण-अतिथियोंको भोजन कराना और गयामें उनके निमित्त पिण्डदान करना—इन तीन प्रकारकी सेवाओंसे पुत्रका पुत्रत्व प्रतिष्ठित होता है।' शेष भगवत्कृपा।

तृष्णाके त्यागमें ही सुख है

तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता। अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः। योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥

(महा० वन० २।३४-३५)

'तृष्णा सबसे बढ़कर पापिष्ठा है। वह सदा ही उद्वेग उत्पन्न करनेवाली मानी गयी है। उसके द्वारा अधिकतर अधर्ममें ही प्रवृत्ति होती है। वह बड़ी भयंकर है और पापकर्मोंमें ही बाँध रखनेवाली है। दुष्टबुद्धिवाले मनुष्योंके लिये जिसका त्याग अत्यन्त कठिन है, जो मनुष्यके बूढ़े होनेपर भी बूढ़ी नहीं होती—सदा जवान ही बनी रहती है, जो मानवके लिये प्राणोंका अन्त कर देनेवाले रोगके समान है, ऐसी तृष्णाको जो त्याग देता है उसीको सुख मिलता है।

मानस-सिद्ध-मन्त्र

(एक रामायणप्रेमी)

मेरे स्वर्गवासी पिताजीने श्रीरामायणजीके १००८ पारायण किये थे। सब गाँववाले रात्रिके दस बजे एकत्र हो जाते थे और एक बजेतक रामायण सुनते थे। पिताजीकी पढ़नेकी शैली इतनी सुन्दर और आवाज इतनी तेज होती थी कि मुहल्लेभरकी स्त्रियाँ अपने-अपने घरोंमें ही आरामसे रामायण सुना करती थीं। पिताजी चौपाई पढ़ते समय कभी रो पड़ते थे और कभी हँसने लगते थे। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा—'इस रामायणमें हिंदीकी चौपाइयाँ नहीं हैं, सिद्ध मन्त्र हैं!'

मैंने पूछा—सो कैसे?

पिताजी—एक बार अकबर बादशाहके पास सूरदासजी बैठे थे। बादशाहने उनसे पूछा कि 'कविता आपकी श्रेष्ठ है या तुलसीदासकी?' सूरदासजीने उत्तर दिया कि 'कविता मेरी श्रेष्ठ है।' बादशाहने पूछा कि 'तो क्या तुलसीदासजीकी कविता उत्तम नहीं है?' सूरदासजीने हँसकर कहा—'तुलसीदासजीने कविता नहीं बनायी है, हिंदीमें मन्त्र बना दिये हैं।'

मैं—किस कामके लिये कौन-सी चौपाई काम आती है?

पिताजी—यह प्रश्न मैंने पैंतालीस सालमें हल कर पाया है।

मैं—कैसे?

पिताजी—संत, योगी, विद्वान् और रामायणके प्रेमियोंकी सत्संगतिसे और उनकी सेवासे मुझे उन सिद्ध चौपाइयोंका पता लगा है।

मैं—आपने कभी उनकी परीक्षा भी की थी?

पिताजी—मुझे अबतक इक्यावन प्रयोगोंके लिये ऐसी चौपाइयाँ मिली हैं, जो मन्त्रका काम करती हैं, परंतु ये ही सब नहीं हैं। इनके अतिरिक्त और भी मन्त्ररूपा चौपाइयाँ श्रीरामायणजीमें बहुत अधिक हैं।

मैं—आपने क्या इन सब चौपाइयोंकी स्वयं परीक्षा की है?

पिताजी—तीसकी परीक्षा मैंने स्वयं की है। शेषकी परीक्षा मैंने अपने मित्रोंद्वारा करवायी है। सब सच्ची हैं।

मैं—तो क्या मन्त्रकी तरह मन्त्र-चौपाई भी सिद्ध करनी पड़ती है?

पिताजी—चौपाई-मन्त्रका विधान यह है कि रातमें दस बजेके बाद अष्टाङ्गहवनकी सामग्री और एक माला लेकर एकान्तमें बैठ जाना चाहिये। अपना मुख काशीकी ओर कर लेना चाहिये। एक बार चौपाई पढ़कर हवन करे और मालाका एक मनका पीछे करे। इस प्रकार एक सौ आठ बार मन्त्रोच्चारणके साथ हवन करता जाय। बस, मन्त्र सिद्ध हो गया। फिर जब जिस कार्यके लिये आवश्यकता हो, इनका श्रद्धापूर्वक जबतक कार्य सिद्ध न हो, नित्य जप करते रहना चाहिये।

मैं—ये रामायणी मन्त्र किस दिन पढ़ने चाहिये?

पिताजी—सातों दिन। रामायणके सात काण्ड हैं। अतः प्रतिदिन जप किया जा सकता है।

मैं—मुख काशीकी ओर क्यों?

पिताजी—काशीवासी शंकर भगवान्ने रामायणकी चौपाइयोंको मन्त्रशक्ति प्रदान की है। अतः उन्हें साक्षी बनाकर इन्हें पढ़ना चाहिये।

मैं—अब आप पैंतालीस सालकी यह कमाई पैंतालीस मिनटमें मुझे सौंप दीजिये।

पिताजी—तुम लिख लोगे?

मैं—जी हाँ और 'कल्याण'में प्रकाशित कराऊँगा।

पिताजी—ठीक है। समस्त रामायणप्रेमियोंके सामने यह महाप्रसाद रख देना। विश्वासके साथ कोई भी व्यक्ति इनमेंसे चाहे जिस 'मन्त्र-चौपाई'से लाभ उठा सकता है। श्रद्धा-विश्वास होगा तो भगवान् शिवजी उसकी इच्छा पूर्ण करेंगे।

× × × ×

पिताजीने वे चौपाइयाँ लिखवा दीं। मैंने वह कागज रख लिया और आज 'कल्याण'द्वारा उसे प्रकाशित करवा

रहा हूँ। इन चौपाइयोंसे लाभ उठानेवाले सज्जनोंको चाहिये कि वे अपना अनुभव 'कल्याण-सम्पादक'को लिख भेजें।

संस्कृतके मन्त्र कठिन होते हैं, इससे प्रत्येक व्यक्तिको उनके उच्चारणमें सुगमता नहीं होती, इसलिये जापकका मन उसमें पूरा नहीं लगता। साबर-मन्त्र रूखे और अंटसंट शब्दावलीसे भरे होते हैं, उनमें भी मन नहीं लगता; परंतु रामायणके ये मन्त्र सरल, सरस और सार्थक हैं। जापक इनमें तन्मय हो जाता है। इच्छाशक्ति तल्लीन हो जाती है। सुरतिमें निरति मिल जाती है और नियति बदल जाती है।

रक्षारेखा

मन्त्र सिद्ध करनेके लिये या किसी संकटपूर्ण जगहपर रात व्यतीत करनेके लिये अपने चारों ओर रक्षाकी रेखा खींच लेनी चाहिये। लक्ष्मणजीने सीताजीकी कुटीके आसपास जो रक्षा-रेखा खींची थी, उसी लक्ष्यपर रक्षामन्त्र बनाया गया है। इसे एक सौ आठ आहुतिद्वारा सिद्ध कर लेना चाहिये—

मामभिरक्षय रघुकुल नायक। धृत बर चाप रुचिर कर सायक॥

१—विपत्ति-नाशके लिये—

राजिव नयन धरें धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥

२—संकट-नाशके लिये—

जौं प्रभु दीनदयालु कहावा। आरतिहरन बेद जसु गावा॥
जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥
दीनदयाल बिरिदु संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥

३—कठिन क्लेश-नाशके लिये—

हरन कठिन कलि कलुष कलेसू। महा मोह निसि दलन दिनेसू॥

४—विघ्न-विनाशके लिये—

सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपाँ बिलोकहिं जेही॥

५—खेद-नाशके लिये—

जब तें रामु ब्याहि घर आए। नित नव मंगल मोद बधाए॥

६—महामारी, हैजा और मरीका प्रभाव न पड़े, इसके लिये—

जय रघुबंस बनज बन भानू। गहन दनुज कुल दहन कृसानू॥

७—विविध रोगों तथा उपद्रवोंकी शान्तिके लिये—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

८—मस्तिष्ककी पीड़ा दूर करनेके लिये—

हनूमान अंगद रन गाजे। हाँक सुनत रजनीचर भाजे॥

९—विष-नाशके लिये—

नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को॥

१०—अकाल-मृत्यु-निवारणके लिये—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

११—भूतको भगानेके लिये—

प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यान घन।
जासु हृदयँ आगार बसहिं राम सर चाप धर॥

१२—नजर झाड़नेके लिये—

स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहिं छबि जननीं तृन तोरी॥

१३—खोयी हुई वस्तु पुनः प्राप्त करनेके लिये—

गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥

१४—जीविका-प्राप्तिके लिये—

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥

१५—दरिद्रता दूर करनेके लिये—

अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के। कामद घन दारिद दवारि के॥

१६—लक्ष्मी-प्राप्तिके लिये—

जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥
तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाएँ। धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ॥

१७—पुत्र-प्राप्तिके लिये—

प्रेममगन कौसल्या निसि दिन जात न जान।
सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान॥

१८—सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिये—

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना बिधि पावहिं॥

१९—ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करनेके लिये—

साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥

२०—सब सुख-प्राप्तिके लिये—

सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥

२१—मनोरथ-सिद्धिके लिये—

भव भेषज रघुनाथ जसु सुनहिं जे नर अरु नारि।
तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥

२२—कुशल-क्षेमके लिये—

भुवन चारि दस भरा उछाहू। जनकसुता रघुबीर बिआहू॥

२३—मुकदमा जीतनेके लिये—

पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥

२४—शत्रुके सामने जाना हो, उस समयके लिये—

कर सारंग साजि कटि भाथा। अरि दल दलन चले रघुनाथा॥

२५—शत्रुको मित्र बनानेके लिये—

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥

२६—शत्रुता-नाशके लिये—

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥

२७—शास्त्रार्थमें विजय पानेके लिये—

तेहिं अवसर सुनि सिवधनु भंगा। आयउ भृगुकुल कमल पतंगा॥

२८—विवाहके लिये—

तब जनक पाइ बसिष्ठ आयसु ब्याह साज सँवारि कै।
मांडवी श्रुतकीरति उरमिला कुअँरि लईं हँकारि कै॥

२९—यात्राकी सफलताके लिये—

प्रबिसि नगर कीजे सब काजा। हृदयँ राखि कोसलपुर राजा॥

३०—परीक्षामें पास होनेके लिये—

जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥
मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती॥

३१—आकर्षणके लिये—

जेहिं कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥

३२—स्नानसे पुण्य-लाभके लिये—

सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु साधु समाजं प्रयाग॥

३३—निन्दाकी निवृत्तिके लिये—

राम कृपाँ अवरेब सुधारी। बिबुध धारि भइ गुनद गोहारी॥

३४—विद्या-प्राप्तिके लिये—

गुर गृहँ गए पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब आई॥

३५—उत्सव होनेके लिये—

सिय रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन राम जसु॥

३६—यज्ञोपवीत धारण करके उसे सुरक्षित रखनेके लिये—

जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग॥

३७—प्रेम बढ़ानेके लिये—

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

३८—कातरकी रक्षाके लिये—

मोरें हित हरि सम नहिं कोऊ। एहि अवसर सहाय सोइ होऊ॥

३९—भगवत्स्मरण करते हुए आरामसे मरनेके लिये—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

४०—विचार शुद्ध करनेके लिये—

ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ॥

४१—संशय-निवृत्तिके लिये—

राम कथा सुंदर कर तारी। संसय बिहग उड़ावनि हारी॥

४२—ईश्वरसे अपराध क्षमा करानेके लिये—

अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता। छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता॥

४३—विरक्तिके लिये—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

४४—ज्ञान-प्राप्तिके लिये—

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥

४५—भक्तिकी प्राप्तिके लिये—

भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपासिंधु सुख धाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥

४६—श्रीहनुमान्‌जीको प्रसन्न करनेके लिये—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥

४७—मोक्ष-प्राप्तिके लिये—

सत्य संध छाँड़े सर लच्छा। काल सर्प जनु चले सपच्छा॥

४८—श्रीसीतारामजीके दर्शनके लिये—

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।

लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥

४९—श्रीजानकीजीके दर्शनके लिये—

जनकसुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुना निधान की॥

५०—श्रीरामचन्द्रजीको वशमें करनेके लिये—

केहरि कटि पट पीत धर सुषमा सील निधान।

देखि भानुकुल भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान॥

५१—सहज स्वरूप-दर्शनके लिये—

भगत बछल प्रभु कृपा निधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥

अष्टाङ्ग-हवनकी सामग्री

(१) चन्दनका बुरादा, (२) तिल, (३) शुद्ध घी, (४) शक्कर, (५) अगर, (६) तगर, (७) कपूर, (८) शुद्ध केशर, (९) नागरमोथा, (१०) पञ्चमेवा, (११) जौ और (१२) चावल।

आशा है कि पाठकगण इन चौपाई-मन्त्रोंकी सहायतासे अपने दुःखोंको दूर करेंगे।
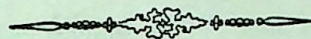
मानव-जीवनका मेरुदण्ड—शील

[महाभारतके वनपर्वपर आधारित एक पौराणिक आख्यान]

(स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज)

विद्या-ग्रहण करनेके अपने मनोयोगपूर्वक परिश्रमके कारण जहाँ अर्जुनने अनेक दिव्य शस्त्रास्त्रोंका संचालन सीख लिया, वहीं उन्होंने भगवान् शंकरद्वारा एक अद्वितीय अस्त्रको भी प्राप्त करनेमें सफलता प्राप्त की। अजेय पाशुपतास्त्र प्राप्त करनेवाले अर्जुनको देखनेका लोभ सुरश्रेष्ठ इन्द्र भी संवरण न कर पाये। देवराज इन्द्रके अतिथिके रूपमें स्वर्गमें रह रहे अर्जुनकी अलौकिक सुन्दरताने अप्सरा उर्वशीको मोहित कर दिया।

एक दिन संध्याके समय चन्द्रोदयके पश्चात् जब उर्वशी अर्जुनके शयनागारमें गयी तो सहसा उर्वशीको देखकर अर्जुनके नेत्र लज्जासे झुक गये; उन्होंने उसके चरणोंमें प्रणामकर उसका गुरुजनोचित सत्कार किया।

आशाके विपरीत आचरण देखकर उर्वशीने कहा—'पुरुषोत्तम! तुम्हारे शुभागमनके उपलक्ष्यमें आयोजित नृत्य-समारोहमें तो तुम मुझे निर्निमेष-नयनोंसे निहार रहे थे और अब?'

उर्वशीकी यह बात सुनकर अर्जुनने दोनों हाथोंसे अपने कानोंको मूँदते हुए कहा—'सौभाग्यशालिनी भाविनि! तुम मेरे लिये न केवल कुन्ती और इन्द्राणी—शची हो, अपितु गुरुपत्नियोंके समान पूजनीया भी हो। तुम्हें सभामें एकटक निहारनेका कारण जो तुमने सोचा है, वह भ्रमपूर्ण है। देवि! तुम पुरुवंशकी आनन्दमयी जननी हो—ऐसा समझकर मेरे नेत्र खिल उठे थे। वरवर्णिनि! मैं तुम्हारे चरणोंमें मस्तक रखकर तुम्हारे शरणागत हूँ। तुम लौट जाओ। मेरी दृष्टिमें तुम मातृवत् पूजनीया हो। पुत्र मानकर मेरी रक्षा करो।'

अपने चारित्र्यके अनुपम आदर्शका उदाहरण प्रस्तुत करनेवाले संयमी अर्जुनको उर्वशीके शापका भाजन बनना पड़ा—

तस्मात् त्वं नर्तनः पार्थ स्त्रीमध्ये मानवर्जितः। अपुमानिति विख्यातः षण्ढवद् विचरिष्यसि॥

'तुम्हें स्त्रियोंके बीचमें सम्मानरहित होकर नर्तक बनकर रहना पड़ेगा, तुम नपुंसक कहलाओगे और तुम्हारा समस्त आचार-व्यवहार नपुंसक-जैसा होगा।'

यह दूसरी बात है कि कालान्तरमें उर्वशीका यह शाप अर्जुनके अभीष्ट अर्थका साधक बना।

अमृत-बिन्दु

संसारकी सुखासक्ति ही भगवत्प्रेममें मुख्य बाधक है। यदि सुखासक्तिका त्याग कर दिया जाय तो भगवान्‌में प्रेम स्वतः जाग्रत् हो जायगा।

× × ×

जबतक संसारका सुख लेते रहेंगे, तबतक प्रकृतिका सम्बन्ध नहीं छूटेगा।

× × ×

जबतक नाशवान्‌की ओर खिंचाव रहेगा, तबतक साधन करते हुए भी अविनाशीकी ओर खिंचाव (प्रेम) और उसका अनुभव नहीं होगा।

× × ×

जैसे सूर्य बादलोंसे नहीं ढकता, प्रत्युत हमारे नेत्र ही बादलोंसे ढकते हैं, ऐसे ही परमात्मा आवृत नहीं होते, हमारी बुद्धि ही आवृत होती है।

× × ×

वस्तुके अभावसे दुःख नहीं होता, प्रत्युत वस्तु मिल जाय—इस इच्छासे दुःख होता है।

× × ×

अनित्य वस्तुसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर नित्य-तत्त्व स्वतः अनुभवमें आ जाता है।

× × ×

धन किसीको भी अपना गुलाम नहीं बनाता। मनुष्य स्वयं ही धनका गुलाम बनकर अपना पतन कर लेता है।

× × ×

जबतक मनुष्य भगवान्‌का सहारा नहीं लेगा, तबतक कोई भी सहारा टिकेगा नहीं और वह दुःख पाता ही रहेगा।

× × ×

सांसारिक विषयमें असंतोष करनेसे पतन होता है और पारमार्थिक विषयमें असंतोष करनेसे उत्थान होता है।

× × ×

जितने भी विकार हैं, वे सब नाशवान् वस्तुको महत्त्व देनेसे ही पैदा होते हैं।

× × ×

परमात्माकी प्राप्तिमें क्रियाकी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत भावकी प्रधानता है।

× × ×

मनमें किसी वस्तुकी चाह रखना ही दरिद्रता है।

× × ×

जिसे करना चाहिये और जिसे कर सकते हैं, उसका नाम 'कर्तव्य' है। कर्तव्यका पालन न करना प्रमाद है, प्रमाद तमोगुण है और तमोगुण नरक है—**'नरकस्तमउन्नाहः'** (श्रीमद्भा० ११। १९। ४३)।

× × ×

शरीरमें अपनी स्थिति माननेसे ही नाशवान्‌की इच्छा होती है और इच्छा होनेसे ही शरीरमें अपनी स्थिति दृढ़ होती है।

× × ×

उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुको लेकर अपनेको बड़ा अथवा छोटा मानना बहुत बड़ी भूल है, तुच्छता है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

प्रवृत्ति या निवृत्ति

मेरे एक स्नेही थे, जो बहुत बूढ़े थे। उनका रहन-सहन तो बिलकुल सीधा-सादा था। मुझे जब समय मिलता, तब उनसे मिलने जाता और जब जाता तब देखता कि वे कुछ-न-कुछ काम करते ही रहते।

एक दिन मैंने पूछा—'काका! मैं जभी आता हूँ तभी आपको कुछ-न-कुछ काम करता हुआ ही देखता हूँ। इस बुढ़ौतीमें तो घरका यह जंजाल छोड़िये।'

'महाराज! मैं जंजाल बढ़ाता नहीं, जंजाल छोड़ता हूँ'—उन्होंने कहा।

'क्या कहा?, 'जंजाल छोड़ते हैं?' वह किस तरह?'—मैं पूछ बैठा।

तब वे कहने लगे—'देखिये, अपना जो यह मन है, वह जब खाली रहता है, तब हजारों प्रकारके खोटे विचार करने लगता है। एक कहावत है—'आलसीका दिमाग, शैतानका कारखाना।' हमलोगोंका मन खाली रहनेपर खोटे विचार करता है न? खोटे विचार उठनेपर हम वैसे ही काम करनेमें प्रवृत्त हो जाते हैं। इसीलिये मुझे अपने मनको किसी-न-किसी काममें लगाये रखना पड़ता है।

'मैं प्रातःकाल चार बजे जग जाता हूँ। स्नानादि करके देवसेवामें बैठ जाता हूँ। ग्यारह बजे वहाँसे उठता हूँ। फिर भगवान्‌को भोग लगाकर भोजन करता हूँ। पुनः कुछ देर वामकुक्षी करके कोई उत्तम ग्रन्थ पढ़ता हूँ। पढ़ते-पढ़ते ऊब जानेपर घरका छोटा-मोटा काम हाथमें ले लेता हूँ। कुछ भी काम न हो तो फटे कपड़े सीने बैठ जाता हूँ। सायंकाल कथा-वार्तामें जाता हूँ। व्यालूके पश्चात् माला लेकर बैठ जाता हूँ। कभी-कभी छोटे बच्चोंको अच्छी-सी धार्मिक कहानियाँ सुनाता हूँ। इस तरह सारा दिन प्रवृत्तिमें ही बीत जाता है। इन सारी प्रवृत्तियोंके पीछे मेरा एक ही आशय रहता है—'मनकी चञ्चल वृत्तिपर अंकुश रखना।' मैं अपने अनुभवसे कहता हूँ कि जो व्यक्ति अपने मनको ऐसे ही किसी-न-किसी काममें उलझाये रहे तो उसका मन ईश्वरानुरागी बन जाता है। उच्च विचार और सादा जीवन मनकी चञ्चलताको मन्द कर देते हैं। महाराज! आप चाहे जो समझिये, मैं तो ऐसा ही मानता हूँ कि मेरी सारी क्रियाएँ प्रभुप्रीत्यर्थ ही हुआ करती हैं।

'महाराज! हमलोगोंकी पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन—ये सभी इन्द्रियाँ अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार काम करनेवाली ही हैं। इन इन्द्रियोंसे कैसा काम लिया जाय, यह हमारे हाथमें है। इन्हें अच्छा काम देंगे तो ये अच्छा काम करेंगी। अन्यथा ये निम्न मार्गपर तो जानेवाली ही हैं। सरिताके बहते जलको पीने या खेतीके काममें न लेंगे तो वह सारा जल खारे समुद्रमें ही जानेवाला है।

'मनको सन्मार्गकी ओर मोड़नेके लिये हमारे पास कोई-न-कोई सत्प्रवृत्ति होनी ही चाहिये। आँखोंका काम देखना है। इन आँखोंसे अच्छे-अच्छे ग्रन्थ न पढ़े जायँ, देवदर्शन न किये जायँ तो ये न देखनेयोग्य दृश्य देखनेवाली ही हैं। सत्संग, भजन या देवदर्शनके लिये पैर न चलें तो वे हमें सिनेमा ले जानेवाले ही हैं। इन्द्रियाँ निन्द्य, अनुचित पथपर अग्रसर हों, इससे पहले उन्हें सन्मार्गकी ओर मोड़ देना हम ।ववेकी जनोंका प्रथम कर्तव्य है।

'प्रभुने यह जीभ बोलनेके लिये दी है। कितने ही लोग तो इस जीभसे गाली-गलौज करते हैं। जीभ असंस्कृत भाषा बोले, इसकी अपेक्षा वह राम-रामकी रट लगाये तो क्या वह बुरा है?

'हमारा मन इतना प्रबल है कि वह अच्छे माने-जानेवालोंको भी पछाड़ देता है। इसके साथ बलसे नहीं, कलसे (कलासे) काम लेना चाहिये। यदि वह अनुकूल हो गया तो बस, बेड़ा पार ही समझिये।'

'इसलिये महाराज! समाजमें गंदगी भी मानव ही फैलाता है और स्वच्छता भी मानव ही रखता है। इस

प्रकार संसारकी सभी प्रवृत्तियोंका मूल मन ही है। यह सीधा रहा तो सब कुछ सीधा और यह उलटा तो सब कुछ उलटा! जैसे हमें सद्‌गुणी पुत्र भाता है, वैसे ही भगवान्‌को भी निर्मल मनवाला मानव ही भाता है।'

इस प्रकार वृद्धकी अनुभवभरी वाणी सुनकर मैं भी दो घड़ीके लिये विचारमें डूब गया।

—'जनकल्याण'

(२)

करुणानिधिकी उदार दयालुता

बहुतोंके मुखसे सुनते हैं—भगवान्‌ने निष्ठुरता बरती है, कुठाराघात किया है, वज्रपात कर दिया है, अन्याय किया है। हम सभी परम पिताको कोसते हैं, यह हमारा स्वार्थमय एवं भ्रमात्मक दृष्टिकोण है। परम पिता परमात्मा आदिकालसे अपने समस्त प्राणियोंपर कृपा, अनुग्रह, दयालुता बरतते आये हैं, बरत रहे हैं, बरतते रहेंगे। दयालु प्रभुके खजानेमें एवं दया दशनिमें कृपणताका बिलकुल स्थान नहीं है।

घटना १४ मई सन् १९८७ ई० गुरुवारकी रात्रिकी है। उस समय आकाश-मण्डलमें घनघोर बादल छाये हुए थे और जोर-शोरसे गड़गड़ाहटकी ध्वनि हो रही थी। साथ ही दामिनी आकाशमण्डलको चीरकर धरतीतक अपना आँचल फैलाकर प्राणिमात्रकी धड़कन बढ़ा रही थी। प्रभु-चरणानुरागी यह दासानुदास राजस्थानका निवासी है। संध्या समय परिवारके स्वजन हरिकीर्तनमें लीन थे कि अचानक ऐसा प्रतीत हुआ कि हृदयविदारक गर्जन-तर्जनके साथ विद्युत्‌की लहर परिवारको भस्मीभूत कर देगी; पर घरपर चौकमें नीम नारायण भगवान्‌का वृक्ष है। जिस प्रकार भगवान् शिवने भागीरथी गङ्गाको अपने मस्तकपर धारण किया है, ठीक उसी प्रकार नीम नारायण भगवान्‌ने बिजलीको अपने ऊपर धारण कर लिया, जिससे समस्त पत्ते एकदम तत्क्षण सूख गये, टहनियाँ जल गयीं, वृक्षकी छाल चारों ओर घरके आँगनमें गोलियोंकी बौछारके समान फैल गयी, पूरे आँगनमें आगके अँगारें बिखर गये, पेड़से बँधा लोहेका तार जलकर राख हो गया। उसका अवशेष नहीं दिखायी दिया। बिजलीके तार जल गये।

बिजलीका कनेक्शन आफ होनेपर भी फ्यूज उड़ गया, सभी बल्ब फ्यूज हो गये, टेप एवं टी० वी० खराब हो गये। भयंकर प्रलयकारी दृश्य उपस्थित हो गया। उस क्षण परिवारमें किसी भी प्राणीके बचनेकी आशा नहीं थी। तत्क्षण विद्युत्‌की लहर लहराती हुई दीवारमें छेदकर कहाँसे किधर चली गयी—प्रभुकी इस लीलाको प्रभु ही जानें। किसी भी प्राणीको कुछ भी क्षति नहीं हुई, पुत्रवधू अवश्य मूर्च्छित हो गयी। चार मासके बालककी आँखें विद्युत्-आलोकसे कुछ समयके लिये खुली-की-खुली रह गयीं, परंतु गृहलक्ष्मीने श्रीरामकी रटनको नहीं छोड़ा। उक्त दृश्यको जिन लोगोंने सुना, वे सभी देखने आये एवं करुणानिधिकी उदार दयालुताके वास्तविक स्वरूपको देखकर आश्चर्यचकित हो गये। यह भगवन्नाम-संकीर्तनका ही प्रभाव था कि घरमें बिजली गिरनेपर भी परिवारके सभी प्राणी सुरक्षित रह गये। अतः सत्य है कि —

'अपने-अपने घरन की सभी करत हैं पीर।
धरत पीर सब घरनकी धन्य-धन्य रघुवीर॥'

—मंगलचन्द शर्मा

(३)

वज्रपातसे रक्षा

भाद्रपदकी रात्रि थी। मूसलाधार वर्षा हो रही थी। बिजली बड़े जोरसे कड़की तो मैं नींदसे चौंककर जाग गया; परंतु पिताजीने आश्वासन देकर मुझे सुला दिया। पिताजी बराबर 'राम-राम' जपते बैठे थे। अचानक हवाके झोंकेसे खिड़कीके रास्ते बूँदें आयीं। खिड़की बंद करके पिताजी दूसरी ओर जाकर बैठनेके लिये चले। इतनेमें पूरा कमरा प्रकाशसे भर गया। पिताजी नेत्र बंद करके भूमिपर बैठ गये, वे 'राम-राम' जपते रहे। भयंकर कड़कके साथ बिजली गिरी। अब नेत्र खोलनेपर उन्होंने देखा कि वे जहाँ पहले बैठे थे, ठीक उसके सामनेके घरमें वज्रपातसे आग लग गयी थी। यदि वे उठे न होते तो वे उस वज्रपातकी चपेटमें आ गये होते।

—मणिकान्त ठाकुर

परमज्ञानका अधिकारी

[गताङ्क पृ० ५६८ से आगे]

साधन और स्वरूप

नचिकेताके प्रश्नको सुनकर यमराजने आत्माका स्वरूप बतलानेसे पूर्व उसके साक्षात् साधन प्रणवका उपदेश आरम्भ किया । यमराज बोले—

'समस्त वेद जिसका प्रतिपादन करते हैं, समस्त तप जिसे बतलाते हैं अर्थात् जिसके लिये किये जाते हैं, जिसे प्राप्त करनेके लिये साधकगण ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान किया करते हैं वह पद मैं संक्षेपमें बतलाता हूँ, वह है—'ॐ' ।'

'वह परात्पर परमात्मा जो सब नामोंसे परे होनेपर भी सब नामोंमें भरा हुआ है, जो सर्वथा नामविहीन होते हुए भी अनेक नामोंसे सम्बोधित किया जाता है, उसके समस्त नामोंमें 'ॐ' सर्वश्रेष्ठ है । 'ॐ' शब्द ब्रह्मका प्रतीक है । यह अक्षर ही ब्रह्म है और इसी अक्षरको ब्रह्मस्वरूप समझकर इसकी उपासना करनेसे साधक जो चाहता है वह पा लेता है ।'

'यह ॐकार ही ब्रह्मकी प्राप्तिका सबसे उत्तम और श्रेष्ठ आलम्बन है और इसी आलम्बनको जान लेनेसे ब्रह्मलोकमें महिमा होती है ।'

इस प्रकार प्रणवोपासनारूपी साधन बतलाकर अब यमराज आत्माका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥[१]

(कठ० १ । २ । १८)

'यह चैतन्यस्वरूप आत्मा न जन्मता है, न मरता है, न यह किसी दूसरेसे उत्पन्न हुआ है, न कोई दूसरा ही इससे उत्पन्न हुआ है । यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है और सनातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मरता ।' इसीलिये यमराज कहते हैं—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳहन्ति न हन्यते[२] **॥**

(कठ० १ । २ । १९)

'अज्ञानी मारनेवाला समझता है कि 'मैं इसे मारता हूँ' और मरनेवाला समझता है—'मैं मरा हूँ'—परंतु वे दोनों ही नहीं समझते; क्योंकि यह आत्मा न तो किसीको मारता है और न कोई मरता ही है।'

यह आत्मा—

अणोरणीयान् महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।

(कठ० १ । २ । २०)

—'जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है, महान्‌से भी महत्तर है और जीवकी हृदय-गुफामें छिपा हुआ है'—इसे वही देख पाता है जो कामनाओंसे रहित है, कर्मोंकी सिद्धि और असिद्धिमें समचित्त है, सुत-वित्त-दारकी उत्पत्ति या विनाशमें हर्ष और शोकको नहीं प्राप्त होता तथा प्रत्येक अवस्थामें परमात्माकी एक अनन्त सत्ताको उपलब्ध करता हुआ शान्त और स्थिर रहता है, परंतु जो इस प्रकारका नहीं है उसे आत्माके दर्शन नहीं होते; क्योंकि यह आत्मा निश्चल होनेपर भी दूरतक पहुँच जाता है, सोया हुआ ही सर्वत्र चला जाता है, विद्या और धन आदिके मदसे युक्त होते हुए भी मदरहित है। इसे मेरे अतिरिक्त अन्य कौन जान सकता है ?'

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

(कठ० १ । २ । २२)

'यह समस्त अनित्य शरीरोंमें रहते हुए भी शरीररहित

१-२ गीताके अ० २, श्लोक १९-२० में थोड़ेसे शब्दान्तरसे ये दोनों मन्त्र ज्यों-के-त्यों हैं ।

है, समस्त अस्थिर पदार्थोंमें व्याप्त होते हुए भी सदा स्थिर है, इस नित्य और महान् विभु आत्माको जो धीर पुरुष जान लेता है वह शोकसे तर जाता है।'

यह एक ही आत्मा सब ओरसे और सबमें व्यापक होनेपर भी—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ॥

(कठ० १।२।२३)

—'न तो यह वेदके प्रवचनसे प्राप्त होता है, न विशाल बुद्धिसे मिलता है और न केवल जन्मभर शास्त्रोंके श्रवण करनेसे ही मिलता है।' यह मिलता है उसे—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥

(कठ० १।२।२३)

—'जिसे यह स्वप्रकाश आत्मा स्वयं स्वीकार कर लेता है और जिसके निकट अपना यथार्थ स्वरूप प्रकट कर देता है।'

'जो पापोंमें रत है, जो दम, शम तथा चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप समाधिसे रहित है, जिसका मन अशान्त है, उसे केवल पाण्डित्यकी प्रचुरता और तर्कोंकी तीक्ष्णतासे ही आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता। जो शम-दमादि गुणोंसे युक्त है, जो शुद्ध, संयत और समाहितचित्त है, जो इन्द्रियलालसाओंसे विरत है और जिसने श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनद्वारा अभेदरूप प्रज्ञान प्राप्त कर लिया है, वही उस प्रज्ञानके द्वारा इस आत्माको प्राप्त होता है।'

'नचिकेता! देखो, दूसरोंकी तो बात ही क्या है, जो ब्राह्मण और क्षत्रिय समस्त धर्मोंके रक्षक और प्राणस्वरूप हैं, जो इतने श्रेष्ठ हैं वे भी उस परमात्माके भोजन बन जाते हैं। सबका संहार करनेवाला मृत्यु भी जिस परमात्माके भोजनका उपसेचन अर्थात् साग-पात बन जाता है, ऐसे उस महामहिमान्वित परमात्माको संसारके भोगोंमें आसक्त और साधनरहित मनुष्य कैसे जान सकता है कि वह 'इस प्रकारका है।'

आत्मा और परमात्माका निर्णय करके यमराजने शिष्यको कर्मसे अग्निविद्या और ज्ञानसे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति बतलानेके लिये कहा—'जो यजमानको दुःखसागरसे पार करनेके लिये पुलके समान है, वही नाचिकेत अग्नि है और जो संसार-सागरसे पार होना चाहनेवालोंके लिये परम आश्रयस्वरूप है, वही अक्षर परब्रह्म है। कर्मके द्वारा अपरब्रह्मको और ज्ञानके द्वारा परब्रह्मको जानना चाहिये। जीवकी मुक्तिके लिये जितने पथ हैं उन सबमें ज्ञान ही सबसे प्रधान है।' तदनन्तर यमराजने आत्माका रथीरूपसे वर्णन करते हुए कहा—

आत्मानँ रथिनं विद्धि शरीरँ रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँ स्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

(कठ० १।३।३-४)

'शरीर रथ है, आत्मा रथका स्वामी रथी है, बुद्धि सारथि है और मन लगाम है—ऐसा समझो। श्रोत्रादि इन्द्रियाँ घोड़े हैं, शब्द-स्पर्शादि विषय ही इनके दौड़नेका मैदान है और शरीर, इन्द्रिय तथा मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं।'

घोड़ोंसे ही रथ चलता है, परंतु उस रथको चाहे जिस ओर ले जाना लगाम हाथमें पकड़े हुए बुद्धिमान् सारथिका काम है। इन्द्रियरूपी बलवान् और प्रमथनकारी घोड़े विषयरूपी मैदानमें मनमाना दौड़ना चाहते हैं, परंतु यदि बुद्धिरूपी सारथि मनरूपी लगामको जोरसे खींचकर उन्हें अपने वशमें रखता है तो घोड़ोंमें शक्ति नहीं कि वे मनरूपी लगामके सहारे बिना ही चाहे जिस ओर दौड़ने लगें। यह सबको विदित है, इन्द्रियाँ वास्तवमें विषयका ग्रहण तभी कर सकती हैं जब मन उनके साथ हो। घोड़े उसी ओर दौड़ते हैं जिस ओर लगामका सहारा होता है, परंतु इस लगामको ठीक रखना सारथिके बल, बुद्धि और मार्गके ज्ञानपर निर्भर करता है। यदि बुद्धिरूप सारथि विवेकपूर्ण स्वामीका आज्ञाकारी, लक्ष्यपर सदा स्थिर, बलवान् और इन्द्रियरूपी अश्वोंकी संचालनक्रियामें निपुण नहीं होता तो इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़े उसके वशमें न रहकर लगामको अपने वशमें कर लेते हैं और परिणाममें वे रथको रथी और सारथिसमेत चाहे जैसे बुरे

स्थानमें ले जाकर पटक देते हैं। परंतु—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥

(कठ० १।३।६)

'जिसकी बुद्धिमें विवेक होता है, जिसका मन एकाग्र और समाहित होता है, उसकी इन्द्रियाँ अच्छे घोड़ोंकी तरह बुद्धिरूप सारथिके वशमें रहती हैं।'

जिसका मन निग्रहरहित है, जो अविवेकी है और जो सदा अपवित्र है, ऐसे रथीको कभी अपने लक्ष्य—परमपद ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती। उसे बारंबार कष्टमय जन्म-मरणरूप संसारमें ही भटकना पड़ता है। परंतु—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥

(कठ० १।३।८)

'जो विवेकी है, जिसका मन निगृहीत है, जो सदा पवित्र रहता है, वह ऐसे परमपदको पाता है, जहाँसे लौटकर फिर जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। जिसका बुद्धिरूप सारथि विवेकी है, जिसकी मनरूप लगाम स्थिर है, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े लगामके साथ-ही-साथ विवेकमयी बुद्धिके वशमें हैं, वह इसी रथकी सहायतासे संसारसागरके उस पार अपने लक्ष्यस्थानपर अनायास ही जा पहुँचता है और वही—**'तद्विष्णोः परमं पदम्।'** (कठ०१।३।९) —'विष्णुका परमपद है।'

यमराजने फिर कहा—'इन्द्रियोंसे उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धिसे महत् श्रेष्ठ है, महत्से अव्यक्त श्रेष्ठ है और अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है, बस, इस पुरुषसे परे और कोई नहीं है— **सा काष्ठा सा परा गतिः** ।(कठ० १।३।११) यही चरम सीमा है, यही परमगति है, परंतु यह केवल-

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

(कठ० १।३।१२)

सूक्ष्मदर्शियोंके द्वारा सूक्ष्म वस्तुके निरूपणमें निपुण एकाग्रयुक्त बुद्धिसे ही देखा जा सकता है। अतएव—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।(कठ० १।३।१४)

उठो! जागो! और महापुरुषोंके पास जाकर इसे जानो। बुद्धिमान् लोग इस मार्गको तलवारकी धारपर चलनेके समान बतलाते हैं—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

(कठ० १।३।१४)

इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं, इसीसे वे केवल बाहरकी वस्तुओंको देखती हैं, अन्तरात्माको नहीं देखतीं। कोई विवेकसम्पन्न पुरुष ही अमृतत्वकी शुभ इच्छासे इन इन्द्रियोंको अन्तर्मुखी करके अन्तरात्माको देख पाता है। अज्ञानी लोग बाह्य विषयोंकी ओर ही दौड़ते हैं और इसीसे वे सर्वत्र व्याप्त मृत्युके फंदेमें फँस जाते हैं, परंतु ज्ञानी पुरुष उस अमृतत्वको जानकर इन अनित्य पदार्थोंसे नित्य वस्तुकी प्रार्थना नहीं करते।

जो यहाँ (कार्यमें) है वही वहाँ (कारणमें) है, परंतु जो उपाधिके सम्बन्धसे और भेद-ज्ञानके कारण अविद्याके प्रभावसे उस अभिन्नस्वरूप ब्रह्मको नाना रूपोंमें देखता है, वह बार-बार मृत्युको (जन्म-मरणको) ही प्राप्त होता है। इस ज्ञानकी प्राप्ति केवल विचारसे ही हो सकती है। यहाँ किंचित् भी भेद नहीं है। जिसे यहाँ भेद दीखता है उसीको बार-बार मृत्युकी शरण लेनी पड़ती है। 'जैसे शुद्ध जलमें शुद्ध जल मिलानेपर दोनों मिलकर एकरस तन्मय हो जाते हैं, इसी प्रकार आत्मदर्शी पुरुषका आत्मा परमात्मासे मिलकर ब्रह्मरूप बन जाता है।'

यमराजने आगे चलकर पुनः कहा—'नचिकेता! मैं प्रसन्न होकर तुम्हें यह अत्यन्त गोपनीय सनातन ब्रह्मतत्त्व बतला रहा हूँ। मृत्युके बाद जीवका क्या होता है, वह तुम सुनो! जिसके जैसे कर्म और जैसी वासना होती है और जिसका जैसा ज्ञान होता है उसीके अनुसार कोई तो मृत्युके बाद माताके गर्भमें जाता है और कोई मृत्युके पश्चात् वृक्ष, पाषाणादि स्थावर योनिको प्राप्त होता है। जब समस्त प्राणी निद्राग्रस्त रहते हैं तब जो एक निर्गुण ज्योतिर्मय ब्रह्म सुप्रकाशितरूपसे जाग्रत् रहकर समस्त विषयोंको प्रकाशित करता है, वही शुद्ध है, वही ब्रह्म है, उसीका नाम अमृत है, उसके सिवा और कोई छिपा हुआ ब्रह्म नहीं है। पृथ्वी आदि सभी लोक उसीमें

अवस्थित हैं, उसका अतिक्रमण कोई भी नहीं कर सकता ।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

(कठ० २।२।९-१०)

'अग्नि एक ही है, परंतु जैसे सम्पूर्ण भुवनमें प्रवेश करनेपर वही भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें भिन्न-भिन्न रूपमें दीखता है, इसी प्रकार समस्त प्राणियोंमें रहनेवाला आत्मा एक ही है, परंतु सबमें भिन्न-भिन्न रूपमें दीखता है, आकाशकी तरह निर्विकार होनेके कारण बाहर भी वही रहता है । जैसे एक ही वायु लोकमें प्रवेशकर भिन्न-भिन्न रूपमें दीखता है, इसी प्रकार सब प्राणियोंमें व्यापक एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न रूपमें दीखता है तथा बाहर भी रहता है ।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

(कठ० २।२।११)

'जैसे एक ही सूर्य सब लोकोंकी आँख है, अच्छी-बुरी सभी वस्तुओंका प्रकाश सूर्यसे होता है, तथापि वह बाह्य दोषोंसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह आत्मा सर्वव्यापी होनेपर भी जगत्के दुःखोंसे लिप्त नहीं होता, उनसे बाहर रहता है ।'

समस्त भूतप्राणियोंके अंदर शक्तिरूपसे रहनेवाला वह आत्मा एक ही है, वही सबका नियन्ता है, वह एक ही अनेक रूपमें दिखायी देता है । जो धीर पुरुष इस प्रकार आत्माको जानते हैं, उन्हें ही—

तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ (कठ०२।२।१२)

—'नित्य सुख प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं ।'

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥

(कठ० २।२।१३)

'जो अनित्य पदार्थोंमें नित्यस्वरूप तथा ब्रह्मा आदि चेतनोंमें चेतन है और जो अकेला ही अनेकोंकी कामनाएँ पूर्ण करता है, अपनी बुद्धिमें स्थित उस आत्माको जो विवेकी पुरुष देखते हैं, उन्हींको नित्य शान्ति प्राप्त होती है, औरोंको नहीं ।'

जिसे सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता, जो चन्द्रमा और तारागणोंसे प्रकाशित नहीं होता, बिजली जिसे प्रकाशित नहीं कर सकती, उसे बेचारा अग्नि तो क्या प्रकाशित करे ? जिसके प्रकाशसे ही सबका प्रकाश होता है, उसी परिपूर्ण प्रकाशकी दिव्य ज्योतिसे समस्त विश्व प्रकाशित हो रहा है ।

इस दृश्यमान संसारके समस्त पदार्थ उस परब्रह्मसे निकलकर उसीकी सत्तासे सदा काँपते हुए अपने-अपने काममें लगे रहते हैं; क्योंकि वह उठे हुए वज्रके सदृश महाभयङ्कर है ।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

(कठ० २।३।३)

'अग्नि उसीके भयसे तपता है, सूर्य उसीके भयसे तपता है तथा इन्द्र, वायु और पञ्चम मृत्यु उसीके भयसे दौड़ते हैं ।'

जब मनुष्यकी सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, जब मन सब प्रकारकी मलिनताको त्यागकर अत्यन्त विशुद्ध बन जाता है और जब अन्तःकरणकी समस्त वासनाएँ सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो जाती हैं, तब यह मरणशील मनुष्य अमृत बनकर यहींपर ब्रह्मको प्राप्तकर ब्रह्मानन्दमें मगन हो जाता है । इस अवसरपर उसके हृदयकी ('मैं' और 'मेरे' की) समस्त ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं और वह अमृत बन जाता है, बस यही शास्त्रका उपदेश है, इससे परे और कुछ भी नहीं है ।

'कल्याण'के नामपर धोखाधड़ी करनेवालोंसे सावधान रहें

खेदका विषय है कि **'कल्याण'** तथा समाचारपत्रोंके माध्यमसे हमारे बार-बार स्पष्टीकरण और चेतावनी देनेके बाद भी पश्चिमी उत्तरप्रदेशमें—आगरा, मथुरा, मेरठ, बुलन्दशहर, बदायूँ, गाजियाबाद, बागपत, हरियाणामें—गुड़गाँव, फरीदाबाद एवं राजस्थानमें—अलवर, धौलपुर, भरतपुर आदि क्षेत्रोंमें तथाकथित नरेशकुमार नामका एक ठग जिसकी आयु लगभग २२-२३ वर्षकी बतायी जाती है, **'कल्याण'** के नामपर अवैध धनवसूली करके भोलीभाली जनताके साथ निर्द्वन्द्वरूपसे धोखाधड़ी कर रहा है। वह कहीं नरेशकुमार और कहीं मुकेशके नामसे सक्रिय है, जो अबतक सैकड़ों लोगोंको अपने छलका शिकार बना चुका है। यह तथ्य हमारे यहाँ प्राप्त बहुसंख्यक पत्रों और शिकायतोंसे सुस्पष्ट है। इसके पूर्व हमने समय-समयपर अनेक बार इस विषयमें स्पष्टीकरण छापनेके अतिरिक्त जनसाधारणको इस धोखाधड़ीका शिकार होनेसे बचानेके लिये प्रभावित क्षेत्रोंके नागरिक तथा पुलिस-प्रशासनको भी, कड़ी कार्यवाही-हेतु आवेदन किया है एवं इस विषयमें सम्बन्धित अधिकारियोंसे लिखा-पढ़ी भी चल रही है; किंतु दुःखकी बात है कि यह सर्वथा जनविरोधी अनुचित और निन्दनीय कार्य अभीतक बंद नहीं हुआ।

यह एक ऐसा कुत्सित कार्य है, जो 'कल्याण' तथा गीताप्रेसको बदनाम करनेके साथ ही धर्मप्रिय, श्रद्धालु निर्दोष जनोंके अर्थ-शोषणसहित उनकी आस्थाको डिगानेका दुस्साहसपूर्ण उपक्रम है; जिसकी सर्वत्र निन्दा की जानी चाहिये। इसके अतिरिक्त सभी लोगोंको चाहिये कि ऐसे असामाजिक और अवाञ्छनीय तत्त्वोंसे सतत सावधान रहते हुए वे 'कल्याण' या गीताप्रेसके नामपर व्यक्तिगतरूपसे किसीको कोई धनराशि कदापि भूलकर न तो स्वयं दें और न यथासम्भव अपनी जानकारीमें किसी अन्यको ही देने दें। यह भी सुस्पष्ट समझ लेना चाहिये कि 'कल्याण' अथवा गीताप्रेसने 'कल्याण'से सम्बन्धित किसी भी प्रकारका शुल्क या धनवसूलीके लिये व्यक्तिगतरूपसे न तो किसीको अधिकृत किया है और न ऐसे किसी भी व्यक्ति तथा उसके अनैतिक क्रिया-कलापोंसे ही 'कल्याण' या गीताप्रेसका कोई सम्बन्ध ही है। इच्छुक सज्जनोंको 'कल्याण'के निमित्त कोई भी राशि सीधे 'कल्याण-कार्यालय'को ही भेजनी चाहिये अथवा कलकत्ता, पटना, दिल्ली, कानपुर, वाराणसी, हरिद्वार, ऋषिकेश-स्थित हमारे शाखा-कार्यालयोंमें भी जमा करा सकते हैं।

'कल्याण'-प्रेमी सभी भाई-बहनोंसे हमारा विनम्र अनुरोध है कि वे अपने इष्ट-मित्रों और सम्बन्धियोंको भी, जो वर्तमानमें 'कल्याण'के ग्राहक नहीं हैं, इस विषयमें सजग, सावधान कर देनेकी कृपा करें। साथ ही किसी भी सर्वसाधारणको यदि ऐसे किसी भी व्यक्तिकी जानकारी मिले तो उसके धोखाधड़ीके इस जनविरोधी, अनैतिक तथा घृणित कार्यकी सूचना पुलिस-थानेमें अवश्य कर देनी चाहिये। जिसकी सूचना जानकारी-हेतु हमारे यहाँ भी भेजनी चाहिये। इस संदर्भमें नैतिकताके प्रोत्साहनार्थ जनहितमें आपके द्वारा किये गये सभी सत्प्रयत्नोंके लिये हम आपके सदैव आभारी रहेंगे।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो०—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

उपदेशपञ्चकम्

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम्।
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसंधीयतामात्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात् तूर्णं विनिर्गम्यताम्॥
सङ्गः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढा धीयतां शान्त्यादिः परिचीयतां दृढतरं कर्माशु संत्यज्यताम्।
सद्विद्वानुपसृप्यतां प्रतिदिनं तत्पादुका सेव्यतां ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरोवाक्यं समाकर्ण्यताम्॥
वाक्यार्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिरःपक्षः समाश्रीयतां दुस्तर्कात् सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसंधीयताम्।
ब्रह्मास्मीति विभाव्यतामहरहर्गर्वः परित्यज्यतां देहेऽहंमतिरुज्झ्यतां बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम्॥
क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यतां स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात् प्राप्तेन संतुष्यताम्।
शीतोष्णादि विषह्यतां न तु वृथा वाक्यं समुच्चार्यतामौदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्॥
एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयतां पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम्।
प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम्॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ उपदेशपञ्चकं सम्पूर्णम्॥

'प्रतिदिन वेद पढ़ो। वेदोक्त कर्मोंका भलीभाँति अनुष्ठान करो। उन्हीं कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करो। सकाम कर्ममें मन न लगाओ। पाप-राशिको धो डालो। सांसारिक सुखमें दोषका विचार करो। आत्मज्ञानकी इच्छा दृढ़ करो और अपने घरसे शीघ्र निकल जाओ। सत्पुरुषोंका सङ्ग करो। अपने हृदयमें भगवान्‌की सुदृढ़ भक्ति धारण करो। शम, दम आदिका सुदृढ़ परिचय प्राप्त करो। कर्मोंको शीघ्र त्याग दो। श्रेष्ठ विद्वान् गुरुकी शरण लो। प्रतिदिन उनकी चरणपादुकाका सेवन करो। एकमात्र अक्षरब्रह्मके बोधके लिये प्रार्थना करो और वेदान्तशास्त्रका वचन सुनो। वेदान्त-वाक्योंके अर्थपर विचार करो। उपनिषद्‌के पक्षका आश्रय लो। कुतर्कसे विरत हो जाओ। वेदानुमोदित तर्कका अनुसरण करो। 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसा प्रतिदिन चिन्तन करो। अभिमान छोड़ो। शरीरमें अहंबुद्धिका त्याग करो और विद्वानोंके साथ विवाद न करो। क्षुधारूपी रोगकी चिकित्सा करो। प्रतिदिन भिक्षारूपीऔषध खाओ। स्वादिष्ट अन्नकी याचना न करो। भाग्यवश जो कुछ मिल जाय, उसीसे संतुष्ट रहो। शीत और उष्ण आदिको पूर्णरूपसे सहन करो। व्यर्थकी बातें न बोलो। उदासीन-वृत्तिकी अभिलाषा रखो। लोगोंपर कृपा करना या उनके प्रति निष्ठुर व्यवहार करना—दोनों छोड़ दो। एकान्तमें सुखसे आसन लगाकर बैठो। परात्पर परमात्मामें चित्त लगाओ। सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माका दर्शन करो। इस जगत्‌को परमात्मभावसे वाधित देखो। ज्ञानबलसे पूर्वकर्मोंका लय करो। भावी कर्मोंमें आसक्त न होओ। शेष जीवनमें प्रारब्धका उपभोग करो और परब्रह्मरूपसे सदा स्थित रहो।'